सम्पादकीय श्रद्धाञ्जलि

मेरा यह सौभाग्य है कि आचार्य विशेशानन्द जी की उत्कृष्ट कृति "विश्व-धर्म" के सम्पादन की सेवा का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। आचार्य जी आधुनिक युग के उच्चकोटि के विचारक और क्रियात्मक धर्मनिष्ठा के समर्थक हैं। मानव-धर्म आपके मतानुसार सार्वजनिक और विश्वव्यापी है। मनुष्य जाति का धर्म एक है और उसका मूलाधार कुछ स्वयंसिद्ध आदर्श और कर्तव्य हैं। जिनका पालन करने से मनुष्य अपना और मानव-जगत का उद्धार कर सकता है। आज के मतमतान्तर के संस्थापकों ने धर्म के नाम पर, समाज और संसार को भ्रम जाल में उलझाकर उन्हें कर्तव्य और चरित्रहीन कर दिया है। अपने मनुष्य सेवा और विश्व-प्रेम के पवित्र मार्ग से उन्हें पथ-भ्रष्ट कर दिया है। आपने "विश्व-धर्म" में अपने ओजस्वी विचारों द्वारा मनुष्य मात्र की अन्तरात्मा को जाग्रत करने का प्रयास किया है और उसे क्रियात्मक पथ को अपनाने की प्रेरणा दी है। उनका यह शुभ-संकल्प तभी सम्पूर्ण हो सकता है, जबकि हम और आप मिलकर इसमें अपना सहयोग दें। इन विचारों का प्रचार करके एक ऐसा वातावरण बनायें। जिसमें मनुष्यमात्र का पुनः चरित्र निर्माण हो सके और वह कर्तव्य पथ पर चलता हुआ, मानव-धर्म का पालन करता हुआ, अपना और संसार का कल्याण कर सके।

एम० एस० भाटिया

एम० ए०

आचार्य विशेशानन्द जी

दो शब्द

विश्व की गोद में रहने वाले मानव समाज मे राग, द्वेष, हिंसा, और घृणा रूपी विष बेल को पनपते देखकर मुझे जो अशान्ति प्राप्त हुई है, वह अब असहनीय वेदना की सीमा की ओर जा रही है। आज की मानव-जाति जिस तरह अनेक मतो, धर्मो, जातियो तथा साम्प्रदायो मे बट चुकी है वह एक दिन मानव-समाज के विनाश का महान कारण बन सकता है। घर से लेकर समाज तक और देश से लेकर विश्व तक, जिस अशान्ति, ग्लानि, घृणा, द्वेष, अराजकता, धर्महीनता व नैतिक-पतन के तूफ़ान ने डेरा डाल रखा है, वह विश्व भर को समाप्त करने के लिये काफी है। इस सब का एक मात्र कारण मानव का व्यक्तिगत स्वार्थ ही है। एक समय था जब मानव-हितो की रक्षा के लिये लोग अपने सुख-स्वार्थ का त्याग करके भी समाज को सुखी बनाने में अपना सुख समझते थे। परन्तु अब तो व्यक्ति, समाज और देश एक दूसरे के सुख को मिटाने में लगे हुए हैं। यह सम्पूर्ण विश्व हमारा है, इसके हितों की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य (धर्म) है, तथा विश्व भर के मानव एक ही जाति व एक ही समाज के हैं, यह प्रायः मानव-हृदय से बिसर ही गया है। इस प्रकार भला इस छूत की बीमारी को दूर किये बिना हम कैसे सुखी रह सकेंगे।

प्राचीन मानव जगत में, अपने मानव समाज को दुःख व चिन्ता-

ओं से बचाने के लिये कुछ सुखप्रद नियम बनाए थे जिनका पालन करते रहने से मानव-समाज सुख व शान्ति पूर्वक रह सकता था। वे नियम ईश्वरीय नियम कहलाते थे। यही नही बल्कि महापुरुषों ने उन नियमों के संग्रह को ही कर्त्तव्य (धर्म) कहकर पुकारा था। उन नियमों के विपरीत चलने से मानव डरता था। उसे भय रहता था समाज से, वह भी आज प्राय: समाप्त हो गया है। अब तो मानव-समाज के कुछ स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए मनमाने धर्म, नियम व सम्प्रदाय बनाकर मानव की "मानवीय एकता" को नष्ट करके उन्हें भिन्न-भिन्न टुकड़ों में बाँटकर मानव-समाज में आपसी फूट, द्वेष, घृणा और हिंसा के विषैले बीज को बो दिया है। आज का विद्वान समाज भी, जिस पर समाज के सुधार व नेतृत्व का भार है; स्वार्थ की अग्नि में भुलस रहा है। हर प्राणी अपना स्वार्थ साधने के हेतु उन उत्तम नियमों का उल्लंघन कर मनमाने नियमों को अपना कर चरित्र उज्ज्वलता व नैतिकता का पतन कर रहा है। मानव-समाज ने जिन सुन्दर हितकारी नियमों को धारण किया था, वे नियम थे—सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, धैर्य, समता, अभिमान का त्याग, नम्रता, शील, आपसी प्रेम, सुन्दर विचार तथा सन्तोष। इन्हें धारणकर या अपनाकर मानव अपनी मानवीय शक्ति का संग्रह करके स्वयं व जगत को सुखी बना सकता था। लेकिन आज के मानव जगत और मानव हृदय से यह सब दूर हो गया है। जिसके परिणाम-स्वरूप 'मानवता' 'दानवता' में बदल गई है। आज का मानव जगत भय, क्रोध और घृणा द्वारा संसार को सुखी बनाना चाहता । भला अग्नि से अग्नि की शान्ति; क्रोध से क्रोध पर विजय तथा हिंसा से हिंसा का दमन कैसे हो सकेगा । शान्ति तो दूसरे को शान्त करने से होगी, सुख तो दूसरे

को सुख पहुचा कर ही प्राप्त होगा। निर्भयता दूसरे को निर्भय बनाकर ही प्राप्त हो सकेगा।

आज का मानव विज्ञान तथा मानव शान्ति के प्रयास तब तक सफल न होगे जब तक हम सब नियमो का पालन हृदय से न करेंगे। हमें नियमो के आगे झुकना पडेगा, हमें मानव-हित के नियमो से प्रेम करना पडेगा। तब ही हम देश और विश्व मे शान्ति स्थापित कर सकेंगे। हमारे आपसी मतभेद व तनाव भी हृदय के भेद को मिटाकर ही मिटेंगे। हमें अन्दर और बाहर से पवित्र होना होगा। तभी मानव समाज मे सुख व शान्ति का पदार्पण होगा।

आज के मानव जगत मे फैली हुई विशेष द्वेष बेल को किस प्रकार उखाडा जाय और उसके स्थान पर जीवन सजीवनी को किस प्रकार बोया जाय, आपसी मतभेद को दूर करके आपसी प्रेम कैसे बढाया जाए, यह सब समझाने के लिए 'विश्वधर्म" अपने विचारो को लेकर आपके सम्मुख आपकी सेवा मे आ रही है। यह पुस्तक अपनी टूटी फूटी भाषा में अपने विचार आपके सामने रख रही है। इसका भाव अपनी (मेरी) योग्यता व लेख की सुन्दरता को प्रस्तुत करने का नही बल्कि अपने हृदय के भावो को आपके सामने व्यक्त करने का है। मानव का अपना कर्तव्य क्या है? मानव की उपासना किस प्रकार की होनी चाहिए? मानव अपनी मानवीय शक्ति का सचार तथा सग्रह किस प्रकार कर सकता है? इस पर अपने विचार "विश्वधर्म" आपके सामने रख रही है।

मुझे पूर्ण आशा ही नही वरन पूर्ण विश्वास है

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

धर्म की व्याख्या

आज के समाज में धर्म एक समस्या बन गई है। पता ही नही लगता कि हमें क्या करना होगा ? धर्म के नाम पर मानव समाज में कर्तव्य-विमूढ़ता छा गई है। हम सब अपने कर्तव्य को छोड़कर 'धर्म' का नारा लगाकर ही संसार से पार होना चाहते है। संसार मनुष्य की कसौटी है। कर्तव्य-पालन करके ही हम संसार-सागर से पार हो सकते है।

'धर्म' नाम 'कर्तव्य' का है जोकि समस्त विश्व की मानव-जाति के लिये पालन करने योग्य है। मानव के जीवन में कुछ नियम हैं जिनका पालन करके वह अपने को सुखी बना सकता है। उन नियमो के समूह को ही महापुरुषों ने 'धर्म' की संज्ञा दी थी।

'धर्म' को आज संसार के कुछ स्वार्थी लोगों ने व्यापार बना दिया है। धर्म के नाम पर मानव-समाज को धोखा दिया जाता है। धर्म केवल

कहने और सुनने मात्र की चीज़ नहीं है। धर्म एक नाव है जो मनुष्य को दुःख-सागर से पार लगाती है। नाव बनाये बिना, उसमें सवार होकर चलाये बिना कोई कैसे पार हो सकता है? उस नाव का स्वरूप मानव के अपनाने योग्य कुछ नियम और कर्तव्य हैं। उन नियमों और कर्तव्यों का पालन किये बिना कौन सुखी हो सकेगा? केवल धर्म का नारा लगाकर हम दुःख-सागर से पार न हो सकेंगे। 'धर्म' एक कर्तव्य रथ है। उस रथ पर सवार होकर हमें समाज, देश और समस्त विश्व का हित करना था न कि देश और समाज को टुकड़ों में बांटकर उसकी शक्ति को नष्ट करना था।

धर्म नाटक की चीज़ नहीं है और न ही धर्म का स्वांग रचा जा सकता है। अपनी प्रशंसा चाहने वाले स्वार्थी लोगों ने धर्म का नाटक रच-कर मानव-कर्तव्यों का नाश कर दिया है। धर्म के नाम पर नाना प्रकार के पंथ और ग्रन्थ रच-कर मानव जीवन को दुखी बना दिया है। आज धर्म के नाम पर मरने वाले अनेकों हैं पर कर्तव्य

के नाम पर कोई भी अपने को आगे नही लाना चाहता। धर्म के नारे लगाने मे, जोश दिखाने मे कुछ कष्ट नही पडता पर, जो धर्म का असली रूप कर्तव्य-पालन है, उसे कष्ट समझकर कोई भी अपनाना नही चाहता।

धर्म 'कर्तव्य' का एक वृक्ष है जिसकी छाया मे बैठकर विश्व शान्ति पा सकता है। कर्तव्य भी मनमाना नही हो सकता। कर्तव्य कुछ ईश्वरीय नियम हैं जिनका पालन करता हुआ मानव अपना व विश्व का कल्याण कर सकता है।

धर्म किसी सस्था, समाज या स्थान का नाम नही है। धर्म को कोई जाति नही है वह तो एक 'ईश्वरीय' जाति से सम्बन्धित है। समाज भी अलग-अलग नही हो सकते। मानव-जाति एक जाति है और उसका समाज भी एक ही मानव-समाज होना चाहिए। जिसमे मानव-हितो की रक्षा हो। मानवता के नियमो के पालन का नाम ही 'धर्म' है। जिस धर्म को अपनाकर हम एक दूसरे से दूर हो, आपस मे द्वेष-भाव की आग भडके, मानव-अधिकारो का नाश हो, वह

धर्म, धर्म नहीं है।

प्राय: देखने में आता है कि आज मानव-समाज में नाना प्रकार के धर्मों का प्रचार हो रहा है। आज किसी से पूछियेगा, आप कौनसे धर्म को मानते हैं? कोई कहता है मैं आर्य, सनातन, सिख, जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान धर्म को मानता हूं। कोई अपने को कबीर, दादू और अनेक पंथों से पुकारता है। प्यारे भाइयो! धर्म इतने नामों वाला नहीं बन सकता; न धर्म के ये नाम हैं। धर्म के मानव मात्र के अपनाने योग्य कुछ आधार हैं जिन पर चलकर वह ईश्वरीय गति को प्राप्त हो जाता है।

सनातन पुरुष, आर्य पुरुष, गुरु नानक, प्रभु ईशा, मुहम्मद, दादू, कबीर, महावीर और महात्मा बुद्ध ये नाम तो उन महापुरुषों के हैं, जिन्होंने मानव-धर्म की रक्षा कर्तव्य-रथ पर सवार होकर की थी। उन्होंने अपने मुख से इतने नामों वाले धर्मों की कभी व्याख्या नहीं की थी। ये महापुरुष तो धर्म के स्तम्भ थे। इन्होंने समय-समय पर आकर मानव जगत को अकर्तव्यता से बचाया

था। इन्होंने हमें अपने बीच के द्वेषभाव, घृणा, अहिंसा, द्रोह-रूपी खाइयों से पार होने का रास्ता बतलाया था। न कि इन्होंने नाम की आड़ लेकर इनके उपदेशों व आदर्शों का 'नाटक' रचने को कहा था। इन सब महापुरुषों ने भी अपने जीवन में आदर्श और चरित्र का पालन करते हुए मानव-धर्म का प्रचार किया था। इन्होंने भी कर्त्तव्य-परायणता को ही धर्म कह कर पुकारा था। जिन महापुरुषों के नाम लेकर हम अपने लिए दीवाल बना रहे है, वे हमारी दशा पर हंसते होंगे? सोचते होंगे कि क्या मानव-जगत हमारे नामों को ही धर्म समझकर मानव-हितों का नाश कर देगा?

हम सब को चाहिए था, कि हम सब मिल-कर विश्व के किसी कोने में भी पैदा होने वाले महापुरुष का सत्कार करते। उनके द्वारा अपनाये गये मार्गो का पालनकर उनके अपनाये आदर्शो को जीवित रखने के लिए आपस में उन आदर्शो का प्रचार करते। मानव हितों और आदर्शो की जिसने भी रक्षा की, वे सब हम सबके पूज्य हैं। उन्होंने जो

कुछ भी किया वह सबके हित के लिए किया। वे किसी विशेष समाज, संस्था के ही महापुरुष नहीं हैं, सारे विश्व के महापुरुष विश्व के पूजनीय हैं। जिस दिन जिस महापुरुष का जन्म-दिन हो, या और किसी प्रकार भी मानव-हित-रक्षा के लिए बलिदान का दिन हो, वह दिन समस्त मानव-समाज के लिए माननीय और पूजनीय दिन होना चाहिए। क्योंकि हमारे इन सब पूजनीय महापुरुषों ने जो कुछ भी किया, वह मानव-जगत के लिए हितकर, व शिक्षाप्रद था। हमारे संसार के सभी महापुरुषों में ईश्वर की शक्ति थी। उन्होंने समय पर जहां जिस देश में भी मानव हितों की रक्षा नहीं होते देखी, वहीं पर जन्म लेकर वहां की व्यवस्था को बिगड़ने से रोका। इसका यह मतलब नहीं कि प्रभु ईसा, प्रभु राम, कृष्ण नानक, मुहम्मद केवल उन्हीं लोगों के पूजनीय हैं, जिनके समाज में उन्होंने जन्म लिया। महापुरुषों की न तो कोई जाति ही होती है और न कोई व्यक्तिगत समाज ही होता है। सम्पूर्ण विश्व ही उनका समाज और समस्त मानव जाति ही उनकी

अपनी जाति है । जो लोग उनको अपनी व्यक्तिगत जाति या समाज का समझते हैं, वे अपने महापुरुषों को किसी सिमित क्षेत्र में बांधकर उनके प्रकाश को जो विश्वभर में प्रभाव डाल सकता है, फैलने से रोकते हैं। हम अपनी अज्ञानता से उनको समझ नहीं सके, उनके उपदेशों का भी हमने गलत अर्थ लगाया है। सब महापुरुषों ने एक मत होकर सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, नम्रता, स्नेह, प्रेम के व्यवहार को समस्त मानव जाति को अपनाने का उपदेश दिया था न कि हिन्दु, सिख, मुसलमान, बौद्ध, जैन, ईसाई बनकर आपस में युद्ध का अखाड़ा बनाने को कहा था ? हाय ! दुख की बात है कि हम अपने महापुरुषों के अपनाये हुए सबके प्रति स्नेह-प्रेम के भाव को भूलकर उसे अपने प्रेम-मिलन के बीच दीवार बना रहे है।

धर्म एक रथ है और कर्तव्य इसके अंग है आज का मानव-समाज धर्म रूपी रथ के टुकड़े-टुकड़े करके उस को छिन्न-भिन्न कर रहा है। अलग-अलग टुकड़ों से हमारा हित कैसे हो सकेगा । हम अलग-अलग टुकड़ों में बट कर

इच्छा है, जिसके कारण आप अपने पिता, पति, पुत्र, मां तथा परिवार के सदस्यों से द्वेष करके जंगलों में जाकर प्राप्त करना चाहते हैं तो आप वापिस लौटकर अपने परिवार में चले जाइये और सब में गुण व अवगुणों का भी विचार न करके, सबसे प्रेम व स्नेह का, समता, शील और सन्तोष का व्यवहार कीजिये। आपको जिनसे द्वेष है, उन्हीं की सेवा निःस्वार्थ भाव से करिये। आपको इन्हीं लोगों में ईश्वर का स्वरूप दिखाई देने लग जायेगा। 'प्रेम' और 'सेवा' ही भगवान का स्वरूप है। 'प्रेम' और 'सेवा' से ही भगवान प्राप्ति के साथ-साथ संसार का सुख भी प्राप्त होता है। हमारे अपने दुःख का कारण हो हमारी अशुद्ध दृष्टि है। आप संसार को दुःखमय न देखकर सुखमय करके देखिये, सब में ईश्वरीय भाव करके व्यवहार कीजिये, अपने सुख और स्वार्थ का त्याग करके परमार्थ में लग जाइये, आपको ईश्वरीय चमत्कार नजर आने लग जायेगा और जन्म भर के लिये दुख, ग्लानि, अशान्ति से मुक्त हो जाइयेगा।

अपने कर्तव्य का पालन ही धर्म है। धर्म कर्तव्य पथ पर चलने से स्वयं बन जाता है। धर्म बनाया नही जाता। धर्म तो मानव का मार्ग अपनाने से बनता है। धर्म, सनातन (एक समान) रहने वाला है। वह न बदलने, न बंटने वाली वस्तु है। संसार में धर्मात्मा वही है जो धर्म के लक्षणों से युक्त है। धर्म वेष-भूषा बनाने से या रंगीन वस्त्रों को धारण करने से भी नहीं बनता।

एक हिन्दू जाति को ही ले लीजिये जिसमें से अनेक पंथ धर्म के बन गये हैं जिसके कारण मति ही भ्रमित हो रही है। यही समझ में आना मुश्किल हो गया है कि हमारा वास्तविक धर्म-पथ, जीवन का मार्ग क्या है। एक ही जाति के इतने धर्म हो सकते हैं यह एक अचम्भे की बात बन गई है। इससे यह प्रतीत हो रहा है कि एक ही मानव जाति के अलग-अलग भगवान हैं। सज्जनो ! विचार करो और अपने को पतन-मार्ग से बचाओ। भगवान तो कर्तव्य पथ पर चलकर मिलता है न कि किसी जाति या समाज में जाकर मिल सकेगा। आपका कर्तव्य ही आपको ईश्वरीय मार्ग पर ले जायेगा।

आजकल जहां भी देखो अनेकों पंथों के अनेकों गुरु लोग अपने-अपने मतानुसार जनता को अपनी राह से विचलितकर गुमराह कर रहे हैं। गुरुजनों का भी कर्तव्य था कि वह अपनी भोली-भाली जनता को उनके वास्तविक धर्म का मर्म बतलाते न कि अपना एक अलग ही गुट बनाकर जनता में फूट का बीज बोते। हमें उल्टी राह पर चलाकर हमारी मानवीय जाति के टुकड़े-टुकड़े किये जा रहे हैं। भगवान एक है, उसका मार्ग भी एक है, वह सबके लिए एक है नकि अलग-अलग जाति के अलग-अलग भगवान हो सकेंगे। भगवान तो किसी को भी उसकी मन की शुद्धता पर ही दिखाई दे सकते हैं, परन्तु इसका भी यह अर्थ नहीं कि हम मन-शुद्धता के लिये अपने को अलग-अलग टुकड़ों में बांट लें। इससे तो मन की शुद्धि के बजाय मन-अशुद्धि का भय है। मन शुद्ध भी अलग-अलग गुटों व समाजों में बट कर नहीं हो सकता। मन की शुद्धि तो सुन्दर आचरण व आदर्शों के पालन करने से होगी और वह हम सब एक ही समाज में या अपने घर में सब के साथ मिलकर ही कर सकते हैं। यह सत्य है कि

समय की परिस्थितियों को सुन्दर बनाने के लिये संसार में अनेक महापुरुषों का आगमन हुआ और उन्होंने उस समय की परिस्थितियों के अनुसार धर्म-स्थापना के लिए कुछ मत प्रकट कर समय की बिगड़ी दशा को ठीक किया परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उस समय के उस मत को 'धर्म' का ही स्थान दे दिया जाये। वह उस समय का विचार तो केवल धर्म-रक्षा के लिए ही किया गया था। परिस्थिति ठीक होने पर हमें अपने पुरातन धर्म का ही अनुसरण करना चाहिये। जिस तरह कभी किसी राज्य में, राज्य के किसी हिस्से में कोई गड़बड़ी हो जाती है तो राजा उस स्थान पर किसी अपने सेनापति को भेजकर वहां की स्थिति को फिर सुन्दर बना देता है, वहां पर उस समय की स्थिति को देखकर सेनापति या सरदार जो कोई भी उचित मार्ग शान्ति-स्थापना के लिए होता है, अपनाता है। शान्ति-स्थापना होते ही वहां पर फिर वही पुराने तरीके से काम-धन्धा चलने लग जाता है, वही कानून व नियम फिर लागू हो जाते हैं। वहां वह सरदार अपना अलग ही मत, जो

में सर्वहित, सर्व कल्याण, सर्वसुख-शान्ति की भावना हो न कि जिसमें जातीयता की भावना छिपी हो। हमारा धर्म 'मानव-धर्म' है जिसमें समस्त विश्व के मानवों की भावना की रक्षा का विधान है। जिस 'मानव-धर्म' को अपना कर, समस्त विश्व की 'मानव जाति' एक सूत्र में बंधकर, अपनी शक्ति का संग्रह कर, अपने जीवन के सुख का अनुभव कर सकती है न कि आजकल के अनेक धर्मो, पन्थों और समाजों की तरह जो एक दूसरे के प्रति घृणा की आग उगल रहे है। द्वेषभाव की आग बिखेरकर जनता-जनार्दन में मन-अशान्ति का तूफान फैला रक्खा है। मानव जाति को टुकड़ों में बांटकर उस की शक्ति को क्षीण कर रक्खा है। आजकल का बिना सिर-पांव वाला धर्म बाजार के दुकानदारो की तरह लोगों को भड़काने, फुसलाने व अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए, धर्म के पाखंडी ठेकेदारों ने बना रखा है। जिस तरह बाजार में कोई ग्राहक चला जाय तो उसे देखकर दुकानदार अपने-अपने माल की प्रशंसा करके खरीदार के सामने अनेकों नमूने रखते है, अपनी तरफ खीचने की

समय की परिस्थिति पर शान्ति-स्थापना के लिये अपनाया था, स्थित कर देता है। वह तो शान्ति स्थापित होने तक के लिए था। शान्ति-स्थापित होते ही वहां पर फिर राजा का बनाया विधान व नियम चलता है। इसी तरह जब-जब विश्व के जिस-जिस हिस्से में अशान्ति व धर्म-विमुखता हुई, उस वक्त वहां पर महापुरुषों ने शान्ति-स्थापना के लिए कुछ अपने विचारों से शान्ति-स्थापना के कुछ साधन अपनाये परन्तु शान्ति स्थापना होते ही वहां फिर ईश्वरीय नियम जो मानव हित के लिये बनाये गये थे, जो सदैव एक ही हैं, जो बदलते नहीं हैं, अपनाये जाने चाहियें, न कि वहां के उस समय के तरीकों को ही फिर 'धर्म' का अलग ही रूप दे दिया जाये या अलग ही कोई समाज बनाया जाये। इसी तरह तो आज हमारे एक मानव-समाज में अनेकों समाज, व संस्थायें, व पंथों का अपना अलग-अलग धर्म बन गया है जो कि हमारी मानव-शक्ति को अलग-अलग गुटों व टुकड़ों में बांटकर हमें शक्ति-हीन तथा क्षीण बना रहा है।

'धर्म' तो उस कर्त्तव्य-पथ का नाम है, जिस

में सर्वहित, सर्व कल्याण, सर्वसुख-शान्ति की भावना हो न कि जिसमें जातीयता की भावना छिपी हो। हमारा धर्म 'मानव-धर्म' है जिसमें समस्त विश्व के मानवों की भावना की रक्षा का विधान है। जिस 'मानव-धर्म' को अपना कर, समस्त विश्व की 'मानव जाति' एक सूत्र में बंधकर, अपनी शक्ति का संग्रह कर, अपने जीवन के सुख का अनुभव कर सकती है न कि आजकल के अनेक धर्मो, पन्थों और समाजों की तरह जो एक दूसरे के प्रति घृणा की आग उगल रहे है। द्वेषभाव की आग बिखेरकर जनता-जनार्दन में मन-अशान्ति का तूफान फैला रक्खा है। मानव जाति को टुकड़ों में बांटकर उस की शक्ति को क्षीण कर रक्खा है। आजकल का बिना सिर-पांव वाला धर्म बाजार के दुकानदारो की तरह लोगों को भड़काने, फुसलाने व अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए, धर्म के पाखंडी ठेकेदारों ने बना रक्खा है। जिस तरह बाजार में कोई ग्राहक चला जाय तो उसे देखकर दुकानदार अपने-अपने माल की प्रशंसा करके खरीदार के सामने अनेकों नमूने रखते है, अपनी तरफ खींचने की

कोशिश करते हैं, आखिर में बेचारा अनजान खरीदार किसी न किसी के चंगुल में घबराकर फंस ही जाता है और अपनी पूंजी को ठगों के हाथों में लुटाकर दुखित व अशान्त हो जाता है, उसी प्रकार आजकल धर्म के ठेकेदार भी घर-घर एजेण्ट भेज-कर, स्त्री-पुरुषों को अपने धर्मों के संपल दिखाकर, कुछ लालच देकर लोगों को भरमा रहे हैं। अन्त में धर्म का खरीदार किसी न किसीके हाथों पड़कर अपने को लुटा ही बैठता है। वहां उसे भगवान तो क्या मानवता भी नहीं मिलती। उसके पास अपनी रही-सही जो सुख और शान्ति की पूंजी होती है उसे भी वह खो बैठता है। अब तो धर्म भी कई रूप बदलकर, अलग-अलग स्थानों पर मनुष्य को ठगने लग गया है। विश्व-पिता परमात्मा भी अलग अलग रूप बनाकर मनुष्य की परीक्षा कर रहा है क्या यही धर्म है? क्या इसी तरह परमात्मा का बोध होगा? हमारी दशा तो इस समय इस तरह की हो गई है, जिस प्रकार 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का'। हम न सांसारिक सुख ही ले सकते हैं न परमात्मा का आनन्द ही।

बन्धुओ ! धर्म सब का एक ही है एक ही रहेगा। चाहे बदल जायँ ससार व उसके विचार परन्तु धर्म न कभी बदला है न बदलेगा।

धर्म क्या है ?

थोडी देर के लिए धर्म को एक रथ समझ लीजियेगा जैसे रथ को अनेक हिस्सो, अगो से बनाया गया है, हर एक हिस्सा अपना महत्त्व बराबर ही रखता है, एक हिस्से के कमजोर होने से रथ मे विकार आ जाता है, जिस प्रकार रथ मे पहिये से लेकर घोडे तक और रथवान तक, रथ सम्पूर्ण कहलाता है, उसी प्रकार धर्म के भी कुछ अग हैं। उन अगो को दस हिस्सो मे गिना गया है और हरेक अग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है एक के भी न होने पर धर्म लगडा 'अगहीन' बन जाता है इसे पूर्णाङ्ग नही कहते। जिस तरह मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर को मनुष्य कहते है। उसमे सब ही अग महत्त्वपूर्ण हैं, एक अग की कमी से मनुष्य को भी अंगहीन, लूला, लगडा, बहरा, काना, टेढा, भेंगा कहने लगते हैं। उसी प्रकार से धर्म नामक रथ के भी दस अग जब सम्पूर्ण होते हैं, तब उसे धर्म या 'धर्मात्मा' कहते हैं। जो मनुष्य

धर्म के दस लक्षणों से युक्त है, वही धर्मात्मा है और धर्म के वे दस लक्षण हम अपने घर-परिवार में रहकर ही धारण कर सकते है। धर्म के दस अंगों का वर्णन मैं बाद में करूंगा। पहले मैं धर्म के अधिकार बतलाऊंगा।

धर्म संसार के हर प्राणी मात्रको अपनाने का अधिकार है। धर्म को अपनाने में ऊंच, नीच, धनवान और निर्धन का भी कोई विचार नहीं है। उसे तो विवेकी जन अपनाते हैं, वे चाहे कोई भी क्यों न हों। धर्म में मानव का जन्म-सिद्ध अधिकार निहित है। धर्म किसी व्यक्ति, समाज, संस्था का अपना अलग नहीं है। उस पर तो सब का अधिकार है। धर्म-रथ में सवार होने के लिये कुछ नियमों व समय का पालन करना पड़ता है। धर्म के दस अंगों को दिनचर्या से लेकर जीवन-पर्यन्त उसे अपनाये रखना पड़ता है। धर्म के लक्षणों को अपने व्यवहार में, घर में, समाज में, सभी स्थानों पर अपनाना पड़ता है। इसी तरह धर्म के लक्षणों को मनुष्य जब अन्दर-बाहर से अपना लेता है तो उसका स्वरूप स्वयं ही धर्मात्मा बन जाता है। धर्म का मार्ग ही

ईश्वरीय मार्ग है। धर्म रूपी रथ पर आरूढ प्राणी स्वय ही ईश्वरीय गति को प्राप्त हो जाता है। धर्म-रथ मनुष्य को ईश्वर तक पहुचाने मे मदद देता है। धर्म-रथ ही एकमात्र साधन है जो ससार के दु खो से मुक्ति दिलाता है।

इसी धर्म-रथ पर आरुढ होकर भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, नानक, कबीर और दादू जी ने विश्व मे अपना प्रकाश फैलाया था। धर्म के दस लक्षणो से युक्त होकर ही उपर्युक्त महा-पुरुषो ने विश्व पर अपनी निर्मल शान्ति की छाप लगाई थी। उनके सुन्दर गुणो और लक्षणो के कारण ही उन्हे अपना गुरु, पूज्य माना था, न कि खोखले ज्ञान व ध्यान से। इन महापुरुषो के जीवन-चरित्र का अवलोकन करने से ज्ञात होगा कि किस तरह उन्होने अपने को अन्दर-बाहर से शुद्ध करके तब ईश्वरीय चमत्कार को पाया था। यही नही, उनका ससार के प्रति भी कैसा व्यवहार धर्म से परिपूर्ण था। उनको अपने, पराये, जाति-पाति का भी भेद-भाव नही था। सम्पूर्ण विश्व और विश्व के प्राणी उनको अपने प्राण सम प्रिय थे। सबको व सब धर्मों

को वे अपना ही अंग समझते थे। उनके सामने सम्पूर्ण विश्व ईश्वरीय 'आत्मीय' धारणा से दृष्टि-गोचर होता था। उन्हें किसीके भीतर दोष ही नजर नहीं आते थे, वे सम्पूर्ण संसार के लिए सूर्यसम थे। जिस तरह सूर्य के सामने अन्धेरा आता ही नहीं उसी तरह धर्म-लक्षण-युक्त इन महापुरुषों के सामने भी दोष आते ही नहीं थे। यह महानता है धर्म-रथ में सवार होने की।

प्रायः देखने में आ रहा है कि लोग धर्म को केवल कहने या सुनने मात्र की वस्तु समझ रहे हैं यह तो धारण करके युक्त होने वाली महान वस्तु है। केवल धर्म की खाल ओढ़ लेने से क्या होगा? जिस प्रकार रथ अपने सामने खड़ा है, हम देख रहे हैं पर जब तक सवार नहीं होंगे तब तक आनन्द का अनुभव नहीं करेंगे। इसी प्रकार धर्म के भी लक्षण धारण करके व्यवहार में लाने होंगे, तभी मन शुद्धता का सही आनन्द प्राप्त होगा। धर्म के लक्षणों को अपने जीवन-चरित्र में भी उतारना पड़ता है। दवाई रोगी को दिखाने मात्र से रोग को दूर नहीं कर देती, साबुन कपड़े को दूर से दिखाने

पर ही कपड़ा साफ नहीं हो जाता। इसी प्रकार धर्म-धर्म पुकारकर या धर्म का नाटक रचकर हम धर्मात्मा नही वन सकते। मनुष्य अगर धर्मात्मा और चरित्रवान् वनकर अपना संचालन करे तो उसे ईश्वरीय शक्ति प्राप्त होती है। अशुभ कर्म व विचार को त्यागे विना मन की शुद्धि नही होती। मन शुद्ध हुए विना धर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। धर्म में प्रवृत्ति-रुचि हुए विना धर्म के लक्षण प्राप्त नहीं होते। प्राचीन काल में अनेकों संत-महात्मा एकान्त में जाकर अशुभ कर्म और विचारों से मुक्त होने के लिए तपस्या करते थे, परन्तु वे भी तब तक पवित्र नही होते थे जब तक कि शुद्ध गुण और विचारों से युक्त नही हो जाते थे। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अन्धेरे का नाश हो जाता है, उसी तरह मनुष्य में धर्म के लक्षण उदय होते ही अशुभ विचारों का नाश हो जाता है। सवसे वड़ी तपस्या शुभ गुण, शुभ कर्म व सच्चरित्रता में है। मनुष्य संसार में रहकर भी अनेकों झंझटों में युक्त होकर भी, या भीषण परिस्थितियों में भी धर्म और चरित्र का त्याग नही करता तो समझिये कि वह अपने घर में ही तपस्या

कर रहा है। संसार को छोड़कर दूर भाग जाना कायरता है। उससे यह प्रतीत होता है कि हम डरपोक हैं, कर्तव्य से हम डरते हैं, हम आलसी हैं। महान तो वही है जो अपने परिवार में रहकर भी अपने कर्तव्यों का त्याग न कर कठिनाइयों का सामना करे। कठिनाइयों का सामना करते हुए भी धर्म और चरित्र का त्याग न करना ही तपस्या है। संसार मनुष्य की पवित्रता की कसौटी है। कसौटी पर कसे जाने से वही सोना घबराता है जो मिलावट से युक्त है। जो सोना खरा है, वह एक बार क्या सौ बार भी कसौटी पर जाने से नहीं हिचकिचायेगा इसी प्रकार जो लोग पवित्र हैं, अपने धर्म व चरित्र की रक्षा करते हैं, उन्हें संसार से डरने या घबराने की क्या आवश्यकता है ? वे तो संसार को भगवान का बगीचा समझकर इसमें विशुद्ध होकर भ्रमण कर इसका आनन्द लेते हैं। संसार में अगर हरएक मनुष्य अगर धर्म और चरित्रता से परिपूर्ण हो जाये तो संसार में कहीं भी दुःख का चिन्ह न रहे। परिवारों में भी सुख का साम्राज्य छा जाए। अधर्म और चरित्रहीनता से ही आज, विश्व में अशान्ति, दुःख

ग्लानि, द्वेष अराजकता छाई हुई है। आज परिवारों में भी आपसी स्नेह-प्रेम खत्म हो रहा है। पति-पत्नि, पिता-पुत्र, भाई-बहन सब अपने स्वार्थ में रत होकर कर्तव्य-विमूढ़ हो गये है। धर्म और चरित्र का पालन करके ही मानव मे मानवता का प्रकाश होगा।

धर्म के दस लक्षण

> ब्रह्मचर्येण तपसां मख पंचक वर्तनै
> दानेन नियमैश्चापि क्षमा शौचेन वल्लभ
> अहिंसया सुशक्तया च ह्यस्तेयेनापि वर्तनै
> एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रपूरयेत
> सम्पूर्णो जायते धर्मो ग्रसैर्भोगो ययोदरे
> धर्म सृजति धर्मात्मा त्रिविधेनैव कर्मणा
> यं य चिन्तयते प्राज्ञस्तं तं प्राप्नोति दुर्लभम्

ब्रह्मचर्य, तपस्या, पंचमहायज्ञ, दान, उत्तम नियमों का पालन, क्षमा, शौच, उत्तम शक्ति, ईश्वरीय वल, चोरी का अभाव।

ये है मानवमात्र के मानने योग्य धर्म के दस लक्षण (अंग)। इन उपर्युक्त दस लक्षणों को धारण व पालन करने वाला महात्मा पुरुष सच्चा धर्म को

सकोगे ? भगवान निर्दोष, निष्कलंक है तो उससे मिलने के लिये हमें भी निर्दोष, निष्कलंक बनना होगा। दो रंग, एक रंग में नहीं समा सकेंगे।

संसार में सबसे बड़ा सुख संसार की निर्मलता में है। मन के अन्दर से उठने वाले दोषों से ही मनुष्य दुखी हो जाता है। मन के भाव दूषित होने से ही कर्म भी दूषित होने लग जाते हैं। दूषित कर्मों का फल ही मनुष्य के दुखों का कारण है। संसार में सब से बड़ा तप, व्रत मन को शुद्ध रखने में है। मन को शुद्ध रखने के लिए कुछ सुन्दर गुणों व लक्षणों को धारण करना पड़ता है। उन सुन्दर गुणों को ही धर्म के अंग कहते हैं। जो कि मनुष्य के कर्तव्य के रूप में प्रकट होते हैं। ऊपर वर्णन हो चुका है कि मन को शुद्ध रखने के लिए मनुष्य को कुछ कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है; उन सुन्दर कर्तव्यों को ही धर्म कहते हैं जो कि दस अंगों से परिपूर्ण होता है। अब धर्म के दस अंगों व लक्षणों का भाव अलग-अलग आपके सामने रख रहा हूं, जिसको समझकर आप पूर्णरूप से यह जान सकोगे कि वास्तव में यह गुण मनुष्य को सुखी बना सकते हैं

या नहीं ?

(१) ब्रह्मचर्य—मन, कर्म, वचन से मानव-शक्ति का संग्रह। शरीर और कर्म-इन्द्रियों को मन सहित सत्य मार्ग पर चलाना। पुरुष का स्त्री में और स्त्री का पुरुष में कामासक्ति भाव से अभाव होना। मन, कर्म, वचन से भोगों से दूर रहना। शास्त्र सम्मत रीति से जीवन विताना। महापुरुषों के आचरणों का अनुसरण करना।

(२) पंच-महायज्ञ—नैतिक कर्म, नित्यप्रति स्नान, ध्यान और विचारवान् रहना। काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार इन पांच शत्रुओं पर ज्ञान-अग्नि द्वारा प्रहार करना। मानव जीवन पर लगे तीन करों सें उऋण होना। वे तीन ऋण : मातृ-ऋण, शरीर-ऋण और समाज-ऋण हैं। इन तीनों की सेवाकर ऋणों से मुक्त होना।

(३) तपस्या—भोग इन्द्रियों का दमन। सत्य, न्याय, अहिंसा के मार्ग में आने वाली कठिन से भी कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए भी इनका सदैव पालन करना। अपने कर्तव्य-पालन करने में समस्त सुखों का त्याग। परमार्थ के लि

संग्रह करना ही मानवता कहलाती है।

प्यारे भाइयो और बहनो ! ऊपर वर्णन किये धर्म के दस अंगों के लक्षण सभी के धारण करने योग्य है। इनमें किसी व्यक्ति, जाति, समाज या संस्था का कोई अधिकार नहीं है। इन सुन्दर गुणों पर तो उसका ही अधिकार है, जो इनका संग्रह करके अपने मानव-जीवन को पवित्र करता है। यही 'धर्म' है, यही ईश्वरीय मार्ग है, और यही कर्तव्य-रथ है; जिसमें सवार होकर हर कोई संसार के दुःखों से मुक्त हो सकता है। इन सुन्दर गुणों को जीवन में सजाने से ही जीवन का सच्चा आनन्द मिलता है। यही मनुष्य का शृंगार और भूपण है। इन सुन्दर गुणों को धारण करने सें हमारा घर, समाज, देश स्वर्ग बन सकता है। इसी से मनुष्य को मानवीय शक्ति की प्राप्ति होगी।

उपर्युक्त वर्णित इन दस लक्षणों से युक्त हो जाइये। आपको स्वयं अनुभव होने लग जायेगा कि आप अब सुखी हैं। आपमें अब शक्ति आ गई है। यह सब आपको धीरे-धीरे प्राप्त उस समय होने लगेगा ज्योंही आप इन सुन्दर गुणों को अपने जीवन

में घटाने लग जाओगे। यह दस अंगों वाला कर्तव्य-रथ आपको आपके सुख की ओर ले जायेगा। केवल धर्म-धर्म चिल्लाने से कुछ हाथ न आयेगा। आपको हिन्दू, सिख, मुसलमान, इसाई, बौद्ध, जैन, कबीर, दादू का चोला भी न पहनना पड़ेगा। यह सब बने बिना भी आप ईश्वरीय आनन्द ले सकेंगे। आप यह विचार न करना कि मुझे किसी की जाति या धर्म से द्वेष है। नही, यह बात नही है। मुझे यह सब जातियां अपने प्राणों से भी प्रिय हैं। केवल भाव इतना है कि आज इन ऊपर लिखे नामों से लोग भोली-भाली जनता को 'धर्म' का नारा लगा कर भ्रमित कर रहे है। विश्व के सर्व धर्म के नेता व संस्थायें मेरे लिये पूज्य और माननीय हैं। मुझे कहना केवल इतना है कि इन नामों के पीछे लगे धर्म का जो स्थान है, उसे मानियेगा। वह समस्त विश्व के नेताओं, संस्थाओं, व समाजों के मानने योग्य है। धर्म सबका प्रिय है। धर्म के साथ जो दूसरा नाम लगाकर, हममें आपसी द्वेष का जो भाव उत्पन्न कराया जाता है, वह सबके लिए अहितकर है। हम इन नामों को लेकर जब आपस में द्वेष

गा वैमनस्यता का व्यवहार करते हैं,वह उचित नहीं है। हमें चाहिये जब सब नामों के पीछे लगने वाला धर्म सबका एक है फिर हम क्यों न धर्म का ही आसरा लेकर चले। क्यों न आपसी द्वेष-भाव छोड़कर एक दूसरे के गले लगकर मिल जायें। इससे हमारी अस्त-व्यस्त शक्ति फिर संग्रहीत होकर हमें सुखी बनायेंगी। दूसरा लाभ यह होगा कि हम धर्म के बाजार में लुटने से बच जायेंगे। वास्तविक धर्म (कर्तव्य) जो हमारा है, वह हमें मिल जाएगा।

भगवान की प्रसन्नता के पुष्प

संसार में सबसे दुर्लभ वस्तु अगर कोई है तो वह है भगवान की प्रसन्नता। दुर्लभ मानव-जीवन को प्राप्त करके भी जिसने इस शरीर के द्वारा भगवान की प्रसन्नता का यदि कोई कारण नहीं बनाया तो समझो उसने मानव-जीवन से कोई लाभ ही नहीं उठाया। यह साधन-सम्पन्न मानव-जीवन महान है जिसके द्वारा मनुष्य साधन द्वारा दुर्लभ से भी दुर्लभ को सुलभ बना सकता है। इस मानव-जीवन की पवित्रता सेवा में है। सेवा से ही ईश्वर की [illegible] बन सकती है। भगवान् के सब प्राणियों

से प्रेम और सेवा करने वाला ही मानव-जीवन की पवित्रता का आनन्द ले सकता है। संसार में सबसे बड़ा सुख और मेवा, सेवा में ही है।

जगत के रक्षक और पालक भगवान की प्रसन्नता किसी जाति, पंथ, ग्रन्थ व भेदभाव मे पड़कर नही मिल सकती। मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर व गुरुद्वारों में जाने से भी भगवान की प्रसन्नता नही बनती। इन स्थानों में तो हमें उपदेश प्राप्त होते हैं। उपदेश सुनने मात्र या ग्रन्थों को रट लेने मात्र से भी ईश्वर की खुशी का कारण नही बनता। जब तक सुने हुए उपदेश व पढ़े हुए ज्ञान को जीवन में कर्तव्य रूप में नही वर्तने लगते, तब तक इससे भी कोई लाभ प्राप्त नही होता। उपदेशों को केवल सुन, पढ व बोल लेने मात्र से भी कोई लाभ नही मिलता। हमारे जीवन का सच्चा लाभ तो कर्तव्य-पथ पर चलने से मिलता है। पुरुष का भूषण ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थी क्या नही कर सकता! वह दुर्लभ को सुलभ और अगम्य को गम्य बना देता है। पुरुषार्थ से ही ईश्वरीय कृपाएं प्राप्त होती हैं। दैवी शक्ति भी पुरुषार्थी को प्राप्त हो जाती है। पुरुषार्थी

के आगे दुःख के पहाड़ भी मैदान बन जाते हैं। जो लोग यह विचार करते हैं कि भगवान को धूप, दीप नैवेद्य दिखाकर प्रसन्न कर लेंगे वे अपने को धोखा देते हैं। ये सब वस्तुएँ तो भगवान की अपनी वस्तुएँ हैं। उसी की दी हुई भेंट द्वारा हम उसे कैसे प्रसन्न कर सकते हैं? भगवान की प्रसन्नता के लिए हमें अपनी तरफ से कुछ देना होगा। वह हम देना नहीं चाहते, क्योंकि उसको देने में कष्ट होता है। वह तो उन पुष्पों से प्रसन्न होगा जो हमें अपने सुख का त्याग करके प्राप्त करने होते है। भगवान की प्रसन्नता में हमें शरीर-कर्मेन्द्रियों व मन का निग्रह करना होगा और उसमें जरा कष्ट का सामना करना पड़ता है। महापुरुषों ने जिन आठ उत्तम पुष्पों से भगवान का पूजन बतलाया है, वे निम्नलिखित हैं—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणाग्रहः
तृतीयकं भूत दया चतुर्थं क्षान्तिरेव च
शमस्तु पंचमं पुष्पं ध्यानं चैव तु सप्तमम्
सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैतुष्यति भगवन्

अहिंसा, इन्द्रिय-निग्रह (संयम), जीवों पर दया, क्षमा शम, दम, ध्यान और सत्य, ये हैं भगवान को

प्रसन्न करने वाले सच्चे पुष्प। इनके संग्रह से ही भगवान की प्रसन्नता बनती है। अब जरा ऊपर वर्णन किए गए पुष्पों का भी अलग-अलग भाव समझ लीजिये।

(१) **अहिंसा**—हिंसा का भाव केवल किसीकी हत्या कर देने मात्र से नही बनता बल्कि मन, कर्म, और वचन द्वारा किसी प्राणी को किसी प्रकार का भी दुख देना हिंसा है और इसके विपरीत अहिंसा है। केवल किसीका मांस खाने वाला ही हिंसक नहीं है, किसी प्रकार से किसीको दुःख पहुँचाना हिंसा है। संसार के समस्त भूत प्राणियों में दया की दृष्टि रखना, सबसे स्नेह होना, सबके दुःख को अपना दुःख समझकर उसे दूर करना, यह अहिंसा का मार्ग है।

(२)**इन्द्रिय संयम्**—अकर्तव्य मार्ग की ओर जाने वाली भोग इच्छुक कर्मेन्द्रियों को रोककर कर्त्तव्य कर्म में लगाना, शरीर, कर्म, मन चिंतन और वचन (वाणी) को सदैव शुभ मार्ग का वेद-विहित धारणा से अनुगामी बनाना। शरीर से शुभ कर्म (परमार्थ कार्य)। मन द्वारा सबका कल्याण

चाहना। वाणी द्वारा मधुर और सरल वाणी का सत्यता से उच्चारण करना।

(३) **जीवों पर दया**—इसका भाव शब्द स्वयं ही बता रहा है कि प्राणी मात्र पर दया, कृपा, क्षमा का व्यवहार करना। सबके सुख की इच्छा रखना दया है।

(४) **क्षमा**—क्षमा का भाव किसी में दोष न देखना है। दोषों पर विचार करने वाला या दूसरे के दोषों को दोष समझने वाला कभी किसीको क्षमा कर ही नहीं सकता। किसीके दोषों को अपना ही दोष समझकर उसे सुधारने में मदद करना, न कि उसके दोषों के कारण उससे घृणा करना। अपने प्रति महान अपकार करने वाले पर भी कृपा करना।

(५) **शम**—चित्त की शान्ति विना शम को धारण किये बन ही नहीं सकती, इसलिए चित् की शान्ति ही शम है। दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान अपमान, जीवन-मरण, यश-अपयश में भी उद्वेग को प्राप्त न होकर समानता में ही चित को रखना मित्र और शत्रु से भी समान भाव से व्यवहार

लाता है।

बन्धुओ ! ये हैं आपके द्वारा कमाये जाने वाले आठ पवित्र पुष्प। इन पुष्पों से जो भगवान का नित पूजन करता है, वह यथार्थ में भगवान का उपासक है। इन आठ पुष्पों से भगवान संतुष्ट होते हैं। बाहर जगत के धूप, दीप, नैवेद्य भगवान की अपनी वस्तु है। उसी की चीज को उसी के अर्पण करने से वह सन्तुष्ट नहीं होगा। हमारा जो धन है, वह हम कमाते नहीं हैं। वह धन हम अपने पास संग्रह करना जानते ही नहीं, जिससे भगवान की प्रसन्नता हो सकती है।

हम अपने असली धन से कोसों दूर हैं। वह पुष्प जिनसे भगवान प्रसन्न होते हैं, हमने अपने जीवन में चुने ही नहीं। हमने उन पुष्पों को क्यों नहीं चुना, क्योंकि उनके चुनने में हमें पुरुषार्थ करना पड़ता है। पुरुषार्थ से हम घबराते हैं जोकि वास्तविक सुख का स्रोत है। हम तो पाखण्ड से भगवान को रिझाना चाहते हैं। उसी प्रकार जिस तरह कोई मनुष्य किसी धनवान से धन लेकर, और उसी लिए हुए धन में से कुछ धन उसी धनवान को वापस

देकर यह कहे, सेठ जी ! लो यह धन मैं आपको अपनी तरफ से दे रहा हूं। इसको स्वीकार करके आप मुझ पर प्रसन्न हो जाइयेगा। कुछ धन मुझे और दे दीजिये। भला जरा सोचियेगा इस तरह वह धनवान क्या हम पर प्रसन्न होगा ? या हमारी मूर्खता-पूर्ण चालाकी (धोखा) पर अपने मन में न हंसेगा? धनवान सोचेगा—ऐ चालाक इन्सान! तू मुझे ठगना चाहता है। इसी तरह हम भगवान को ठगना चाहते हैं।

भाइयो ! आप अपनी तरफ से कुछ कमाइयेगा। भगवान तो अपने उस पुत्र पर प्रसन्न होंगे, जो संसार में अपने पुरुषार्थ से कुछ कमाकर उसके जीवों का कल्याण करेगा। भगवान के जीवों में जो सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, सरलता, नम्रता से व्यवहार करेगा, वही भगवान का प्यारा और सच्चा भक्त बनेगा। जो अपने अभिमान का त्याग-कर सबका सम्मान करेगा, वह भगवान से सम्मानित होगा। जो दूसरों के दु.ख को अपना दु.ख समझकर उसे दूर करने का प्रयत्न करेगा, उसके दुःख को भगवान दूर करेंगे। जो अपने स्वार्थ का

त्यागकर परस्वार्थ में रत होगा, उस पर भगवान की कृपा होगी। जो दूसरों के दोष और अवगुणों में भी उनकी सेवा करता रहेगा, व दूसरों के अवगुणों और दोषों को अपना ही दोष समझकर उन को दूर करने में सहायक होगा, उसकी मदद भगवान करते हैं। जो गिरे हुओं को उठाता है, जो भूले हुओं को राह बतलाता है, उसका रास्ता भगवान सुखमय बनाते हैं। जो किसीसे द्वेष और घृणा नहीं करता वह संसार और भगवान का प्यारा बन जाता है। जो सब में आत्मीयता का व्यवहार करता है, वह वास्तव में भगवान से ही व्यवहार करता है। जो दूसरों पर प्रसन्न रहता है, वह ईश्वर की प्रसन्नता को प्राप्त करता है। जो सब शरीरों में आत्मा देखता है वह ईश्वर का ही दर्शन करता है। ईश्वर का कहीं पर अलग धाम या स्थान नहीं है। वह तो शरीर-रूपी मन्दिरों में आत्मरूप में विराजता है। आत्मा का ध्यान ही ईश्वर-ध्यान है। आत्माओं का सत्कार ही ईश्वर का सत्कार है।

यह था हमारा धर्म और धन। यह था हमारा कर्तव्य। यह था समस्त मानव जाति द्वारा अपनाये

जाने वाला पथ। इन कर्तव्यों का पालन करना ही मानव-धर्म की रक्षा करना कहलाता है।

हमारा-धर्म

१. मानवता के कर्तव्यों का पालन।
२. मानव धर्म रक्षा के लिए अपने प्राणों का भी त्याग।
३. ईश्वरीय मार्ग का अनुसरण।

हमारा (शब्द भाव) सम्पूर्ण मानव-समाज में है। ससार के सब जीव एक ही ईश्वर की सन्तान होने के नाते, सब एक ईश्वर समाज के अंग हैं। हमारा सबका एक ही धर्म है, 'ईश्वरीय धर्म' जो सर्वहित के लिए बनाया गया है। जिस धर्म में किसी व्यक्ति या समाज का कोई स्वार्थ न हो। जो सबके कल्याण के लिए हो वह है, हमारा धर्म। मानव-हितों की रक्षा करना ही हमारा सब का सही धर्म है। परम पिता परमात्मा ने सृष्टि के उत्पत्तिकाल में मानव-समाज के लिए जिन नियमों का पालन करना बतलाया था, जो वेदों में वर्णित है, वह था हमारा धर्म। जिन नियमों के आधार पर चलकर हम सब सुख-शान्ति पूर्वक जीवन-

निर्वाह कर सकते थे, वे नियम थे हमारे धर्म के। जो नियम मानव समाज के बीच, प्रेम, दया, क्षमा, सहनशीलता और नम्रता का भाव फैलाते हैं, वे हैं हमारे धर्म के नियम। जिस धर्म से हमारे बीच के द्वेष, ग्लानि, राग, विकार और दुःखों का नाश होता है, वह है हमारा मानव-धर्म। जिसकी छाया में बैठकर समस्त विश्व आराम पाता, वह है हमारा धर्म-वृक्ष। जिस धर्म-वृक्ष के सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, रूपी तना, टहनी, पत्ते और फूल हैं, जिस धर्म-वृक्ष के नीचे बैठकर हम सब सुख और शान्ति रूपी फल का आनन्द लेते हैं, वह है हम सब का 'मानव-धर्म-वृक्ष'। जिस वृक्ष की अनन्त आयु है। जो सृष्टि के आदि से अन्त तक रहती है। जिसका कभी नाश नहीं होता। वह अक्षय वृक्ष हमारा धर्म-वृक्ष है। न कि आज के बरसाती नालों की तरह जो बरसात होते ही बहने लगते हैं और बरसात समाप्त होते ही मूल से ही समाप्त हो जाते हैं। यह हमारा न धर्म है न पंथ ही और न ग्रंथ ही है। हमारा धर्म अजर-अमर है। इस धर्म-रूपी अक्षय वृक्ष की रक्षा करना ही हमारा सबका कर्तव्य है।

हमारा सबका वह कर्तव्य है, जिस पथ पर चलकर हम संसार के दुःखों से बच सकते हैं।

कर्तव्य एक रथ के समान है। जिस रथ पर सवार होकर समस्त विश्व के प्राणी दुःख रूपी दलदल से पार हो सकते हैं। जो रथ हमें सब प्रकार की कठिनाइयों में भी सुख का ही अनुभव कराता है। अगर हम सब मिलकर धर्म रूपी रथ को कर्तव्य रूपी पथ पर चलायें तो विश्व में शान्ति छा जाये। संसार की समस्त मानव जाति में रहने वाले स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध, सबको ही इस धर्म-रथ में सवार होने का समान अधिकार है। हमारा मानव-धर्म हमें एक-दूसरे से प्रेम करना, सेवा करना सिखाता है।

हम सब को चाहिये था कि हम सब मिलकर, अपने परिवार से लेकर देश और समाज की उन्नति मानव-धर्म के पथ पर चल कर करते। हम सबको चाहिये था कि, हम एक दूसरे को, एक समाज दूसरे समाज को, एक देश दूसरे देश को, अपना ही अंग समझकर उनकी उन्नति में पूर्ण सहयोग देते।

आज जिस प्रकार एक व्यक्ति से लेकर देश व

समाज तक आपस में हिंसा, घृणा, द्वेष, स्वार्थ-लिप्तता, फैली हुई है, यह सब मानव जाति के लिए अहितकर है। आज का मानव-विज्ञान भी मानव-जाति के लिये सुख के अतिरिक्त दुःख का कारण बन गया है। आज मानव-विज्ञान देश और समाज के लिए भय का कारण बन गया है। आज का मानव-समाज अपनी आत्म-शक्ति की दुर्बलता या स्वार्थ सिद्धि के कारण अपने ही हाथों अपने विनाश की तैयारी में लगा हुआ है। अत्यन्त भोग-विलास के साधन हमारे पास होते हुए भी हम सुखी नहीं हैं। हमारा विज्ञान तो मानव-कल्याण की भावना से होना चाहिये था। न कि अपने स्वार्थ और भोगों की पूर्ति के लिए होना चाहिये।

आज संसार भर में फैली हुई अशांति, द्वेष, घृणा और अराजकता को मिटाने के लिये एक 'मानव-धर्म-रक्षा-संघ' की परम आवश्यकता हो गई है, जो कि मानव समाज के अन्दर फैले भ्रष्टाचार, द्वेष-भाव, घृणावृत्ति, हिंसावृत्ति, असत्य व्यवहार को रोकने में सहायक सिद्ध हो। 'मानव-

धर्म रक्षा संघ' विश्व को उसके कर्तव्य की याद दिलाये और शान्ति का महत्व लोगों को समझाये। अगर मानव समाज ने इस पर विचार नही किया, तो एक दिन 'भोग विज्ञान' से मानव जाति का अनिष्ट होने वाला है।

आज के राजनीतिज्ञ भी अपनी 'कटु नीति' द्वारा सत्य को असत्य और अहिंसा को हिंसा में बदलने में अपनी बुद्धिमत्ता समझ रहे हैं। जिस सत्य, न्याय, अहिंसा से मानव-जीवन की उन्नति होती है, उसे ठुकराकर क्या हम सुखी रह सकेंगे ? कभी नही। क्या यही है मानव का आज का विज्ञान, जिससे सम्पूर्ण संसार भयभीत हो रहा है। इन सबका एक मात्र कारण हमारा अहंकार है। हमारे पास आत्म-शक्ति की कमी हो गई है, जिससे हम यह समझ सकते है कि हमारा हित और अनहित किसमें है। हम अपने वास्तविक कर्तव्य को भुला बैठे है। हर व्यक्ति स्वार्थ की अग्नि में झुलस रहा है। स्वार्थपरता के कारण भी हमारी विवेक-शक्ति क्षीण हो गई है। क्या ही सुन्दर होता अगर हर एक मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करता

और संसार से दुःख का नाम ही मिटा देता।

हमारा (धर्म) कर्तव्य तो कुछ और ही था और हम कर कुछ और ही रहे हैं। आज समाज व देश में व घर-घर में पति-पत्नी, पिता-पुत्र, मित्र से मित्र सभी अपनी स्वार्थपरता के कारण अपने कर्तव्य से दूर हो रहे हैं। सभी अपनी भोग-पूर्ति के लिए वासना रूपी अग्नि में जल रहे हैं। क्या यही मानव-जीवन का ध्येय था? क्या इसी की पूर्ति के लिए हमें मानव-जीवन मिला था? क्या भोग रूपी रोग को ही हमें अपने जीवन में अपनाना था? यह सब तो पशु-वृत्ति कहलाती है। भोगों की इच्छा, आपसी द्वेष, घृणा; क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, लड़ाई-झगड़े, यह तो पशु में पाये जाते हैं। हम भी अगर इसी प्रकार आपस में बर्ताव करते रहे तो फिर मनुष्य और पशु में क्या अन्तर रह जाता है? हम मनुष्य हैं। हम पर देश, समाज तथा सब विश्व के जीवों का भार है। उनके दुःख-सुख का दायित्व हम मनुष्यों पर है। ईश्वर ने मनुष्य को इसीलिये बनाया है। हम उसके संसार के जीवों की रक्षा

करे और उनके हित का सदैव ध्यान रखकर, अपने स्वार्थ का त्याग कर दे। जब 'बाड ही खेत को खावे' वाली बात ससार मे होने लग जाए तब रक्षा कौन करेगा। हम मनुष्य, जगत और जीवो की रक्षा करने के लिए थे। हम ही जब इनका नाश करने लग जाए तो 'ससार-फुलवारी' की रक्षा कौन करेगा ? जब माली ही 'बाग' से बैर करने लगेगा तो फुलवारी कैसे फूल और फल सकेगी ? जरा विचार करो और अपने पवित्र मनुष्य-जीवन की पवित्रता का ध्यान रखते हुए, कर्तव्य-कर्म मे लग जाइये। अपने कर्तव्य का पालन न करने से हम ईश्वर के आगे दोषी बन जायेगे।

भगवान की पहली शक्ति का उत्तम स्वरूप मनुष्य है। मनुष्य मे ही ईश्वरीय शक्ति की दिव्य झलक पाई जाती हे। जिस तरह से परम पिता परमात्मा अपने ससार के लिए अनेको प्रकार का साधन रचता है, उसी प्रकार मनुष्य का भी कर्तव्य था कि वह भी अपने पिता की तरह ससार-हित का भाव रखकर भगवान के कार्य मे मदद करता। हमारा धर्म था कि हम अपनी 'मानवी बुद्धि-

'विज्ञान' द्वारा संसार के सब जीवों का भला करते, उन्हें सुखी बनाते। याद रखें जो किसीको भयभीत करता है वह स्वयं भी निर्भयता से नहीं रह सकता। अपने घर पर रखी आग, जो दूसरों को जलाने के लिये हो, उससे अपने लिये भी खतरा पैदा हो सकता है।

आज हम अपनी मानव-शक्ति को व अपने हाथों कमाये धन को जिस 'अणुविज्ञान' में खर्च कर रहे हैं, वह अगर संसार हित में, दीन-दुखियों की सेवा में, अन्य गरीब देशों के हित 'उन्नति' में लगाते तो विश्व भर में सुख-शान्ति की लहर आ जाती। सब एक दूसरे से निर्भयतापूर्वक मिलते व व्यवहार करते। आज जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति भोगों में, द्वेप व घृणा में अग्रसर होने की चेष्टा कर रहा है, उसी तरह आज के वैज्ञानिक लोग भी संसार-विनाश की तैयारी करने में आपस में होड़ (बाजी) लगाकर पहला नम्बर प्राप्त करना चाहते हैं। इस तरह हम व हमारा संसार कैसे सुखी हो सकेगा?

संसार सुखी कैसे होगा?

कोई विचार करे तो संसार में कहीं भी दुःख

है ही नही। अगर कुछ है भी तो वह हमारी अपनी, कमजोरियो का फल है। हमारा स्वार्थ ही हमे दुखी बनाये हुए है। ससार का प्रत्येक प्राणी अपने स्वार्थ को त्यागकर परमार्थ के रास्ते पर चलने लग जाए तो दु ख कही दिखाई न देगा। परन्तु यह सब तबतक नही हो सकेगा जबतक प्रत्येक प्राणी को इस का ज्ञान न कराया जाए कि मनुष्य जीवन क्या है ? मानवता किसे कहते है ? मानव का कर्तव्य क्या है ? यह सब समझने की शक्ति भी हममे तबतक नही आ सकती जबतक हम आत्म-शक्ति से परिपूर्ण न हो। हमे शरीर की तरह आत्मा को भी पुष्ट बनाना होगा। आत्म-ज्ञान से ही हम सत्य-असत्य का विचार कर सकेंगे। ज्ञान ही मनुष्य जीवन की ज्योति है। ज्ञान-प्रकाश से ही जीवन-पथ का पता लगता है। ज्ञान-प्रकाश से ही हम अपने जीवन रथ को कर्तव्य-पथ पर चला सकेंगे। भौतिकवाद की तरह अध्यात्मवाद की ओर भी विचार करना होगा। अध्यात्म-प्रकाश से ही हमे वास्तविक कर्तव्य का ज्ञान होगा। आत्म-ज्ञान से ही हम अपने को हिंसा, घृणा, द्वेप, दु ख ग्लानि से

बचा सकेंगे।

कानून से भी हम घृणा, द्वेष, हिंसा, को नहीं रोक सकेंगे। यह तूफान तो 'स्वयं का बोध' हो जाने पर अपने आप रुक जाता है। स्वयं बोध प्राप्ति साधन में हमें अपने स्कूलों और कालिजों में दी जाने वाली शिक्षा प्रणाली में भी कुछ परिवर्तन करना होगा। आज के शिक्षक व विद्यार्थी दोनों ही नियमों का उल्लंघन कर चुके हैं। इससे हमारा समाज मर्यादा-रहित होता जा रहा है। आज की भौतिकवाद की ओर ले जाने वाली शिक्षा, एक दिन देश और समाज के लिये विष बन जाने वाली है। यह सब आज की भौतिक-शिक्षा का ही परिणाम है कि हममें स्वार्थपरता, राग; द्वेष, विकार, हिंसा और अराजकता का भाव आ गया है। आज की शिक्षा का ही परिणाम है कि हमारे हृदय से सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, नम्रता, प्रियवादिता के सब भाव समाप्त हो चुके हैं। आज की शिक्षा का ही प्रभाव है, कि हमारे बच्चे मर्यादाहीनता, दुश्चरित्रता, आदर्शहीनता की ओर जा रहे हैं। आज हमारे देश के कर्णधार भी इस महत्व

पर विचारे नही कर रहे है। हम अब इस योग्य रह ही कब गये है कि इन महत्वपूर्ण विषयो पर विचार भी कर सके ? आज का मानव भोगो की ज्वाला मे अपने को डालकर विषयी बन गया है। सम्पूर्ण ससार को विषय रूपी साप ने डसकर मानवता से दूर कर दिया है।

हमे अपने स्कूलो से लेकर घर तक आध्यात्मिक विषय का अध्ययन कराना होगा। जिस प्रकार शहरो मे राजनीति के औफिस खुले हुए हैं, उसी प्रकार अध्यात्मिक अध्यन के भी स्थानो को खोलने की आवश्यकता है। हमारे शहरो मे ऐसे स्थानो की जरुरत है, जहा पर तत्ववेत्ता लोग अध्यात्म पर उपदेश देकर लोगो को उनके कर्तव्य का ध्यान करायें। स्थान-स्थान पर व स्कूलो तथा कालिजो मे भी विद्वानो के द्वारा मानव-धर्म पर उपदेश दिलाये जाए। इस तरह कार्य करने से लोग अपना धर्म और कर्तव्य समझकर शुभ कर्मगामी बन सकेंगे। राजनीति के साथ-साथ धर्म-नीति का ज्ञान भी लोगो को कराया जाए। धर्म-नीति के प्रचार से लोगो के मन शुद्ध होगे। मन शुद्ध होते

ही सब कर्म भी अपने आप शुद्ध होने लग जायेंगे।

परन्तु यह सब होगा कैसे ? आज हमारे कर्णधार जिन पर समाज व देश का भविष्य निर्भर है, वे तो स्वार्थपरता में लिप्त हैं। उनकी अपनी ही भोग-इन्द्रियां तृप्त नहीं हैं, वे तो अपने सुख-भोग में इतने आसक्त हो रहे हैं कि उन्हें अवकाश ही नहीं जो इन बातों पर विचार कर सकें। वह तो अपने सुख-साज को सजाने में ही मस्त हैं। जिन पर हमारा भविष्य निर्भर है। वे दानव-शक्ति में परिपूर्ण हैं। वे सब 'बाड़ खेत को खाये' वाली कहावत को सत्य रूप में प्रकट करने में लगे हुए हैं। जिधर देखो उधर चाहे धर्म-नेता हों या राजनीतिज्ञ हों, सभी अपने स्वार्थ को पूर्ण करने में लगे हुए हैं—अगर कोई इन्हें कुछ कहे तो उत्तर मिलता है। अजी छोड़ो भी, इन बातों में क्या रखा है। आप तो मूर्ख हैं। आज का जमाना ही ऐसा है। आप भी अगर अपने जीवन का आनन्द चाहते हो, तो मिल जाओ हम में, तुम भी हमारी तरह करते हुए आनन्द लो जीवन का। यह है हमारे भाग्य के विधाताओं का विचार। यह है आज के मानव रूप

मे दानवों का दावा।

परन्तु यह सब चलेगा कब तक ? आखिर तो धर्म की ही विजय होगी। सब को अपने दानवी विचारो से पीछे लौटकर मानवता अपनानी ही पडेगी। मानव-जीवन का सत्य स्वरूप तो कर्तव्य पालन मे ही है। इस कर्तव्य रथ मे सवार हुए बिना दु ख सागर से कोई पार हो ही कब सकता है। कर्तव्य का पालन किये बिना हमारा सुख कबतक स्थिर रह सकेगा ? सुख तो कर्तव्य-पालन में है न कि अकर्तव्य मे। आज जिसके मुख पर देखो कोई प्रसन्न नही है। सब भयभीत है और अशान्त हैं। आज कैसा विचित्र समय आ गया है, जब मान वही मानव के भय का कारण बन गया है।

प्रिय भाइयो ! इन सब विपयो पर अगर आज विचार न करोगे तो, एक दिन वह आने वाला है, जब इस पर विचार किये बिना हमारी शान्ति हमसे दूर हो जायेगी। हमे सुख-शान्ति के लिए बडी से बडी कीमत, जीवन की देनी होगी। भोगो मे मौज कब तक लोगे। भोग तो रोगो का घर है। यहा से एक न एक दिन मन को मोडना ही होगा

और आत्म-ज्ञान की ओर जाना ही पड़ेगा। मानव-धर्म को समझे बिना सुख शान्ति का सच्चा आनन्द हम ले न सकेंगे।

हमारा-धर्म

(१) हमारा धर्म—मानव धर्म।

(२) मानव धर्म— कर्तव्य का पालन, स्वार्थ का त्याग।

(३) हमारा धन—सत्य, न्याय, अहिंसा, दय, क्षमा, शम, दम, सन्तोष, विचार और सत्संग।

(४) हमारा विचार— सत्य विचार। मानव-हितों की रक्षा करना।

(५) हमारा ध्येय—कर्तव्य-रथ पर आरूढ़ होकर दुःखों का नाश करना। ईश्वरीय नियमों का पालन करना। सम्पूर्ण भूत प्राणियों के हित की रक्षा करना। सबका प्रिय बनना।

मानव जीवन

भगवान की सबसे बडी शक्ति का नाम मनुष्य है। क्योकि मानव-शरीर साधन-सम्पन्न होने से सब जीवो मे श्रेष्ठ है। मानव-समाज से ही अन्य सब जीवो का सरक्षण होता है। भगवान ने अपनी विश्व-फुलवारी का मनुष्य को माली बनाया है। मनुष्य माली की तरह विश्व-फुलवारी को फूलता-फलता हुआ देखना चाहता है। ईश्वर ने इस विश्व-फुलवारी की सभी वस्तुओ को प्रयोग मे लाने का अधिकार पूर्ण रूपेण मनुष्य को दे रखा है। परन्तु इसका अर्थ यह नही हो जाता है कि मनुष्य उस अधिकार का दुरुपयोग करे। मानव सब जीवो मे श्रेष्ठ है, लेकिन उस पर उत्तरदायित्व भी उतना ही अधिक है। ससार के सब जीवो के सुख-दु ख का भार भी मनुष्य पर ही है। विश्व का कोई भी जीव अगर दु खी है तो उसका दोप (कलक) मनुष्य पर ही है। ससार मे श्रेष्ठ वही है जो अपने सुख-स्वार्थ का त्याग करके दूसरो को सुखी बनाता है। माली

बाग में जो कुछ भी लगाता व बनाता है, वह उसके उपभोग के लिए नहीं है। बल्कि वह दूसरों के लिए ही परिश्रम करता है। अपने उपयोग में तो वह उतना ही लेता है, जितना उसका अधिकार है। इसी तरह संसार का सब सुख-साधन मनुष्य के लिए ही है। परन्तु वह सब एक सीमित सीमा तक ही है। माली अगर बाग को अपना लगाया बाग समझकर उसे कुचल डाले या नष्ट कर दे तो उसे माली कौन कहेगा? इसी तरह इस विश्व का माली मनुष्य अगर इस विश्व-रूपी बाग को रोंदने या नष्ट करने लग जाये तो उसे मनुष्य कौन कहेगा?

मनुष्य पर इस विश्व-बाग को बनाने व सजाने का भार है। पर यह सब, वह तभी कर सकता है जबकि वह इसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझें। मनुष्य अपने कर्तव्य-पालन के बाद ही किसीकी रक्षा कर सकता है। हमें यह मानव शरीर केवल अपने सुख-साज को सजाने या भोगों में नष्ट करने के लिए ही नहीं मिला है, बल्कि मानव-शरीर से हमें अपना व दूसरों का हित करना है। हम पर विश्व के सब जीवों का भार है। हमारा सही और

सच्चा सुख दूसरों को सुखी बनाने में है। न कि अपने सुख के लिए दूसरों के सुख को मिटाने में। मनुष्य को अपने उत्तरदायित्व का भी विचार करना है। हमारा क्या कर्तव्य है, वह आज का मानव-समाज भूल रहा है। वह तो आज अपनी सुख-सुविधाएँ जुटाने मे, दूसरो के सुख को मिटा रहा है। इस प्रकार हम कबतक सुखी रह सकेंगे। हमारा जो कर्तव्य-मार्ग था, हम उसके बिल्कुल विपरीत चल रहे है। दूसरों को सुखी बनाना तो दूर रहा, हम उनके सुख को मिटाने में लगे हुए है।

आज मानव-जगत को भोगों ने रोगी बना दिया है। आज समस्त मानव-जाति को विषय रूपी विष ने अचेत बना रखा है। जैसे बेहोश की चेतना नष्ट हो जाती है और वह नही जानता कि मै कौन हूँ, और मुझे क्या करना चाहिए, इसी तरह आज *का मनुष्य भी यह भूल गया है कि मैं भगवान की* सबसे बड़ी शक्ति मानव हूँ और मुझे अपने मानव-धर्म रूपी रथ पर सवार होकर, कर्तव्य-पथ पर चल कर, मानव अधिकारों व संसार के सब जीवो की रक्षा करनी है। न कि भोगों में लिप्त होकर, अपने

मानव जीवन को रोगी बनाना है। आज के मानव का रहन-सहन, आहार-व्यवहार सब विलास-पूर्ण बन चुका है। अपने इस विलास-भोग की पूर्ति के लिए उसे क्या कुछ नहीं करना पड़ रहा है। हम इस भोगी जीवन को सुखी बनाने के लिए उन मार्गों को ही अपना रहे हैं, जोकि मानव-जीवन के लिए कलंक हैं। हमारी फिजूलखर्ची इस तरह बढ़ गई है कि हम अन्दर से खोखले होते जा रहे हैं। बाहरी आडम्बरों में ही हमारा जीवन समाप्त हो रहा है। इस तरह अगर यह फिजूलखर्ची बढ़ता गया, तो संसार विज्ञान द्वारा जिन सुखों की खोज में लगा हुआ है, वे सुख कभी भी उसे प्राप्त नहीं होंगे। सच्चा सुख तो अपनी वासनाओं पर काबू पा लेने से ही प्राप्त हो सकता है।

भोग-विलास का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसकी पूर्ति आज तक कोई भी नहीं कर पाया। हमने अपने रहन-सहन में उन वस्तुओं को भी शामिल कर दिया है जिनकी पूर्ति होना मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव भी है। फिजूलखर्ची व बाहरी आडम्बर का दायरा इतना बड़ा है कि इसकी पूर्ति

तो तब भी नही हो सकती अगर सारी पृथ्वी सोना ही क्यो न पैदा करने लग जाये। भोग-विलास तो आग के कुन्ड के समान है और भोगो की कामनाये इसमे घी का काम करती हे। जिस तरह आग में घी डालते रहो तो, वह अधिकाधिक प्रज्वलित होगी। न कि बुझेगी। इसी प्रकार भोगो की पूर्ति करने से ससार का सम्पूर्ण धन भी खर्च कर दिया जाए तो भी शान्ति प्राप्त नही होगी।

ऐ प्यारे मनुष्य! विचार कर और अमूल्य जीवन को भोग-रूपी अग्नि मे मत जला। कितने दिनो तक चल सकेगा यह सब। एक दिन तो भोग-रूपी अग्नि मे यह शरीर शक्तिहीन होकर गिर ही पडेगा। मानव! तू अपने भीतर भोग-अग्नि के बजाय ज्ञान-अग्नि को धारण कर जिससे तू स्वय पवित्र होकर दूसरो को भी पवित्र करने के योग्य बन जाए। ज्ञान-अग्नि से तेरे अन्दर के सब अशुभ विचार भस्म हो जायेंगे और परम सुख को प्राप्त हो जाएगा। प्यारे मानव! भोग-अग्नि मे तेरी तरह लाखो आये और जलकर राख हो गये। परतु यह भोग-अग्नि फिर भी ज्यो की त्यो जलती रही

तेरी तरह भोग-लालसा लेकर लाखों परवाने आए और अपना अस्तित्व मिटाकर चले गए। अन्ततोगत्वा एक दिन वह भी आयेगा जब हम इन भोगों से रोगी होकर शान्ति की खोज करेंगे। इन भोगों से उत्पन्न संताप हमें दुखी बना देगा। प्यारे! आने वाले पतझड़ का विचार कर। जब इस शरीर की सभी कर्मेन्द्रियाँ, भोग-इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी। उस समय संसार के सब भोग तेरे सामने होंगे और तू इनको भोगने में असमर्थ होगा। तेरा मन पश्चाताप से अशान्त होगा। भोगों में नष्ट की गई अपनी शक्ति के लिए तुझे पछताना पड़ेगा। अपनी इस मानव-शक्ति को जिन भोगों में तू व्यर्थ नष्ट कर रहा है, उस अमूल्य शक्ति के मूल्य का पता तुझे तब लगेगा जब तेरे पास कुछ भी शेष न होगा। यह संसार और इसके भोग जब तेरे अन्दर के रस को चूसकर समाप्त कर देंगे तब तेरा यहां कोई भी अपना न होगा। संसार तो स्वार्थी है। यह तेरे अंदर के रहने वाले रस, शरीर, धन, धान्य, यश, कीर्ति का ग्राहक है। अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के बाद तुझे त्याग देंगे। इसलिए विचार कर और जो तुझे

एक दिन अपना स्वार्थ पूर्ण करके त्याग देंगे, उनका त्याग तू अभी से क्यों नहीं कर देता। प्यारे मानव! अपनी शक्ति को बाहर जाने से रोक दे। इसके रुकते ही तुझे अपार सुख मिलेगा। भोगों में लिप्त होकर अपने कर्तव्य का त्याग मत कर। तेरा साथी संसार में कर्तव्य के बिना और कोई भी नहीं है। कर्तव्य ही तेरा सच्चा मित्र है। इसको त्याग कर आलसी मत हो। उठ खड़ा हो। और धर्म-रूपी रथ पर सवार होकर इसे कर्तव्य पथ पर चला। यह रथ तुझे परम शान्तिमय स्थान पर पहुँचायेगा। प्यारे मानव! रमणियों की रमणीयता में भी अपने को मत भरमा। यह सब तेरे गुणों के गीत नहीं गा रही हैं, बल्कि ये सब अपने स्वार्थ का गीत गुनगुना रही हैं। इनका स्वार्थ पूर्ण होते ही 'गीत' खत्म हो जायेगा। संसार की रंगीनी में भी अपनी बुद्धि को भ्रमित मत कर, यह भी एक क्षणिक खेल, एक क्रीड़ा है। इसकी भी अवधि है। तेरे शरीर की तरह यह संसार की रौनक भी समाप्त हो जाने वाली है।

प्यारे मानव! आलस्य का भी त्याग कर दे। अपने रहन-सहन को सादगी में ले आ। तुझे रहन-

सहन के अतिरिक्त अपने विचारों को ऊँचा ले जाना था। सोच ले, जिस मार्ग पर तू जा रहा है, यह तेरे पतन का मार्ग है। उस दिन का विचार कर जब तेरा रहन-सहन सब स्वयं ही बदल जायेगा। जब तेरे शरीर का भक्षक काल आयेगा। उस वक्त तेरा अभिमान सब चूर-चूर हो जायेगा। यहां किस पर अभिमान करता है। कितने दिनों का डेरा है यहां? आखिर तो सब कुछ छोड़ जाना ही पड़ेगा। तेरे न चाहने पर भी तुझसे बलपूर्वक यह सब तेरा रचा खेल तुझसे छुड़वा ही लिया जायेगा। यहां तू किससे प्यार और किससे घृणा करता है। यहां तेरा न कोई मित्र है न शत्रु ही। यह सब तेरे अपने संकल्पों का खेल है। छोड़ दे 'स्वांग रचना' और वास्तविकता को प्राप्त कर। तू मनुष्य है, पशु नहीं, अपनी मानवता को प्राप्त होकर अपने कर्तव्य-रथ पर सवार हो जा, और अपने धर्म का पालन कर। तुझे ईश्वर ने जो कार्य सौंपा है, उसे पूरा कर। जिसलिए तू यहां आया है, उस पर विचार कर। तेरी मंजिल दूर है। रास्ते में ही क्यों भ्रमित हो गया है। अपने ध्येय और लक्ष्य को सामने रखकर

चल। तेरे सिद्धात कुछ और ही थे, तू कुछ और ही करने मे लग गया है। तेरा लक्ष्य था मानवता प्राप्त करना। तेरा ध्येय था ईश्वरीय पद को प्राप्त करना। तू क्षणिक आनन्दो मे ही अपने मूलधन को भी क्यो खो रहा है? ब्याज के धोखे मे आकर मूलधन गँवाकर तुझे पछताना पडेगा। जीवन राह बडी लम्बी है, रास्ते का भी विचार कर। इन भोगो मे ही सब समय मत खो बैठना। भोगो के कारण जब रोगी बन जायेगा, तब कौन तेरी रक्षा करेगा? कौन तेरा साथ देगा? स्वार्थी सब दूर भाग जायेगे। अब भी समय है। विचार द्वारा अपने तूफानी मन पर सयम की डोर बाध। लालसा के घोडो को रोक, नही तो इनकी उडान तुम्हे उस ऊँचे टीले पर ले जाकर गिरायेगी, जहा से तेरा चिह्न ही मिट जायेगा।

अपने सुन्दर सिद्धान्तो पर चल। सिद्धात ही तेरा कल्याण करेगे। बन्धुओ! आज हम जहा जा रहे है वह मार्ग हमारे अनिष्ट का सूचक है। इस भोग-मार्ग पर गये अनेको को पछताना पडा है। हमारा मनोरजन भी जिस राह पर चल कर हो

रहा है, वह हमें शक्तिहीन बना रहा है। आज के लोग आलस्य की ओर जा रहे हैं। अधिक आराम-परस्ती भी हानिकारक सिद्ध हुई है।

मनुष्य ने अगर इस विलासिता पूर्ण जीवन को सुधारने की कोशिश नहीं की, तो एक दिन 'प्रकृति' को अपना प्रकोप दिखाकर इसमें हस्तक्षेप करना पड़ेगा। जब-जब भी मनुष्य-समाज अपने कर्तव्य को छोड़कर अकर्तव्य की ओर गया, या जब भी मनुष्य ने मर्यादा का उल्लंघन किया, तब-तब प्रकृति का हस्तक्षेप होता रहा है। मशीनरी युग ने भी हमारी मानवीय शक्ति को क्षीण कर दिया है। अब मनुष्य की कोई कीमत नहीं रही। अब कीमत मशीनों की मनुष्य से अधिक बढ़ गई है। मशीनरी विज्ञान से एक दिन संसार में बेरोजगारी, लूटमार भुखमरी शुरु हो जायेगी। जब सब काम मशीनें ही करने लगेंगी तब मनुष्यों का क्या होगा! जब पैसे वाला वर्ग अपने धन से अपना काम मशीनों से लेने लग जायेगा तब निर्धन वर्ग का क्या होगा। वे लोग फिर अपनी उदर-पूर्ति के लिये अनाचरण का ही मार्ग अपनायेंगे। आज प्रत्येक मनुष्य चाहे

वह कितना विद्वान् व वैज्ञानिक क्यो न हो, सब पर ही 'हविस' का भूत सवार हो गया है। वह अपनी हविस को पूरा करने के लिये सीमाओ को भी लाघ रहे हैं।

हमारे अपने खर्चे अनावश्यक वस्तुओ पर इस तरह बढते चले जा रहे है कि एक दिन इनकी पूर्ति करना असम्भव हो जायेगा। इस प्रकार हम कब तक अपनी रक्षा कर सकेंगे। हमारी आमदनी चार आना है और खर्चा दो रुपये तक बढ चुका है। भला विचार करो, इस घाटे को हम कबतक और कैसे पूरा कर सकेगे। एक दिन हमे हार माननी पडेगी। इससे अच्छा है कि हम अपने रहन-सहन के दायरे को सीमित कर ले। हवाई महलो मे हम कबतक आराम पा सकेगे। अपनी हविस के घोडो को रोकने की कोशिश कीजिये। नही तो 'निकट भविष्य' मे वह समय आने वाला है, जब प्रकृति-प्रकोप से इसे रोका जायेगा। प्रकृति-प्रकोप का कदम कठोर होगा। वह मनुष्य को उसकी मनमानी चाल पर दड देगी। उस वक्त वैज्ञानिको का सब नशा चूर-चूर हो जायेगा। कहा तक रोकोगे प्रकृति का

प्रकोप। वह चाहे तो क्या नहीं कर सकती। उसके आगे हमारे अभिमान की एक न चलेगी। इस भोगी विज्ञान को अपनी सीमा से बाहर मत जाने दीजिए। इससे मानव-समाज में अनेकों प्रकार के रोगों के फैलने का डर है।

आज का मानव भोग-विलास के नशे में इतना चूर है कि वह अपने को भी भूल गया है। अपने ऐशो-आराम के लिए वह दूसरों के हित-अहित का भी विचार करना भूल गया है। अपने ऐशो-आराम को पूरा करने में मनुष्यों ने जो कदम उठाया है, वह उनको एक दिन भयंकर आग का शोला बन कर जला देने वाला है। ऐशो-आराम के जीवन को छोड़कर सादगी में आ जाओ और अपनी मानव-शक्ति का संग्रह करो।

बड़े लोगों से ही छोटों पर प्रभाव पड़ता है। शिक्षा का प्रभाव बड़ों से ही छोटों पर पड़ता है। बड़े लोग यानी देश का वह वर्ग जो देश और समाज का भार अपने ऊपर लिए हुए है। उसे पहले अपने विलास-पूर्ण जीवन को सादगी में लाना होगा। तब छोटे समाज पर इसका प्रभाव पड़ेगा। कानून

केवल छोटो के ही लिए नही होता। वल्कि वह कानून वनाने वालो पर भी लागू होता है। किसी भी नियम का असर दूसरो पर तब होता है जब उसके बनाने वाले भी उसका पालन करे। उदाहरणार्थ ही देख लीजिए, देश मे शराब-वन्दी कानून पास हो चुका है, और कई स्थानो पर वह लागू भी हो चुका है। पर देखने मे आ रहा है कि जहा पर प्रतिबंध है, वहा पर ही इसका छुपे-छुपे व्यापार अधिक हो रहा है। भ्रष्टाचार, चोरी (ब्लेक) अधिक हो रही है। इसका कारण एक मात्र यही है कि वडे-वडे लोग इसे पी रहे है। कोई भी वस्तु कानून से तबतक नही रुक सकती जबतक लोगो को उसके छोडने का महत्त्व न वतलाया जाए।

सीख देने वाले, नियम बनाने वाले, आज ससार मे अधिक है। पर उस पर चलने वाले रहे ही नही। हमारी सीख का दूसरो पर तबतक असर न होगा जबतक हम स्वय अपने को न सुधारे। किसी भी वस्तु का त्याग जबतक नही होता जबतक हृदय से उसका त्याग न हो जाये। जरा पहले अपने ऊपर ही विचार कर लीजिये। उदाहरणार्थ हमारे

घर पर अपना बच्चा बीमार है। डाक्टर ने उसे कुछ ऐसी चीजों को खाने से मना किया है, जो उसकी बीमारी में हानिकारक है। अगर घर के और लोग उस वस्तु को घर पर मंगाकर खाते हैं तो बच्चे का भी दिल देखकर ललचा जाता है। ऐसी हालत में वह सबके सामने नहीं तो, चोरी से या छिपकर उस हानिकारक वस्तु को लेने की चेष्टा करेगा। हो सकता है कि वह खा भी ले। उससे उस को हानि होगी। हमें चाहिए कि वह चीज जो बालक के लिए हानिकारक है, तबतक घर में न लाई जाए जबतक बालक बीमार है। अगर घर में आयेगी नहीं तो बालक को ध्यान भी न रहेगा। इसी तरह से किसी चीज की बन्दिश तबतक नहीं हो सकती, जबतक उसे घर से ही हटा न दिया जाए। क्योंकि छोटी बुद्धि वाले सोचते हैं, अगर यह वस्तु हानिकारक है तो इसे और लोग क्यों खाते-पीते हैं। वास्तव में अगर कोई चीज बुरी है तो उसे घर से ही दूर रहने दिया जाए। इस प्रकार केवल कानून से ही हम सब कुछ बन्द नहीं करा सकेंगे। केवल उपदेशों से भी हम किसीको सुधार नहीं सकेंगे-

किसीको सुधारने से पहले अपने को सुधारो।

बड़े ही दुःख के साथ यह भी कहना पड़ता है कि हम लोग अपने धन का भी अपव्यय कर रहे है। आज देश के धन का अधिकांश भाग मनोरंजन में व्यय हो रहा है। वास्तव में मनुष्य का मनोरंजन तो दूसरे के मन को प्रसन्न करने में होना चाहिए। हम जिस धन को थोड़ी देर के मनोरंजन के लिए क्लबों, सिनेमा व थियेटरों में व्यय करते है, उससे हमारे अनेकों निर्धन परिवारों की रोटी का निर्वाह हो सकता है। इधर मनुष्य का एक वर्ग लाखों करोड़ों रुपयों को मनोरंजन या वेष-भूषा के आडम्बर में खर्च करता है तो उधर दूसरा गरीब वर्ग रोटी-कपड़े के लिए भी तड़पता रहता है। क्या यही हमें हमारा मानव-धर्म सिखाता है? इधर एक की लड़की की शादी पर केवल सजावट में ही लाखों-रुपया खर्च होता है और उधर एक गरीब की लड़की पैसों की कमी के कारण क्वारी ही रह जाती है, या युवावस्था अधिक बढ़ते ही मर्यादाहीनता की ओर चलने लगती है। भाइयो! क्या इसे ही मनुष्यता कहते है? समाज की सब कमियों का उत्तरदायित्व

हम पर है। हमें सबको अपने साथ-साथ लेकर चलना होगा। हमें अपने धन को केवल अपने परिवार या अपने ऐशो-आराम में ही नहीं खर्चना (व्यय) होगा। बल्कि अपने बचत के धन से दीन-दुखियों व निराश्रित लोगों के जीवन को सुखमय बनाने के लिए देना होगा। प्यारे भाइयो ! हमारा कर्त्तव्य हमें क्या कहता है और हम कर क्या रहे हैं ? अपने कर्त्तव्य का पालन करने से ही हम सब सुखी होंगे।

राजनीति के साथ धर्मनीति को भी स्थान दिया जाए

'राजनीति' और 'धर्मनीति' का सम्बन्ध मानव-जीवन में उसी प्रकार से है, जैसे शरीर पर लगे दो नेत्रों का। आज संसार में हर स्थान पर जहां 'धर्मनीति' से काम लेना था, वहां 'राजनीति' को ही व्यवहार में लाया जा रहा है। आज का मानव 'धर्मनीति' को भूल गया है। धर्मनीति से हम वह काम कर सकते हैं; जो राजनीति नहीं कर सकती। राजनीति अकेली धर्मनीति के विना इस तरह है, जैसे एक आंख वाला प्राणी। राजनीति और धर्मनीति दोनों का सम्बन्ध आपस में इस तरह

है, जैसे माता-पिता का। पिता राजनीति और माता धर्मनीति है। जिस प्रकार दोनों 'माता व पिता' के बिना घर नही चल सकता, उसी तरह धर्मनीति के बिना राज्य भी चलना मुश्किल हो जाता है। राजनीति से हम बाहर 'विदेशों' का सम्बन्ध सुन्दर बना सकते हैं और धर्मनीति से स्वदेश-सम्बन्ध ठीक कर सकते हैं। आज के मानव-जगत में केवल राजनीति को अपनाकर हमने अपने को दुर्बल बना रखा है। धर्मनीति, जो हमे मां की तरह रख सकती थी, जिससे हमारा हृदय पवित्र हो सकता था, उस सुन्दर प्रेममयी धर्मनीति को त्यागकर हमने अपने को लंगड़ा बना दिया है। राजनीति 'दमन' और धर्मनीति 'पालन' का काम करती है। आज जहां भी देखो राजनीति के अखाड़ों का ही बोलबाला है। इस प्रकार केवल दण्डनीति से ही मानव-हृदय पवित्र न हो सकेगा। हमे लोगो के हृदय को बुराइयों से बचाने के लिए प्यार की नीति को भी अपनाना पड़ेगा। राजनीति के साथ-साथ धर्मनीति को भी स्थान देना ही होगा। आज की राजनीति भी वास्तविक राजनीति नही रह गई। संसार राज-

नीति को चालाकियों व चालबाजियों से चलाना चाह रहा है। आज की 'पॉलिसी' जिसके द्वारा राज्यों का संचालन हो रहा है, वह वास्तव में राज-नीति भी नहीं है। इस 'पॉलिसी' से लोगों में द्वेष और घृणा की प्रवृत्ति जागृत हो रही है। चालबा-जियों से भरी राजनीति से हम कब तक राज्य चला-सकेंगे। आज के युग की नीति जो राजनीति कहकर पुकारी जा रही है, वह राजनीति नहीं है, बल्कि 'मनमानी नीति' हो सकती है। आज चारों तरफ भ्रष्टाचार का जो बोलबाला हो रहा है, वह धर्म-नीति के बिना चल रही राजनीति का ही परिणाम है। हर राजनीतिज्ञ राजनीति से नहीं बल्कि 'चाल-नीति' से अपना स्वार्थ पूर्ण करने में लगा हुआ है। आज के नेताओं में कोई विरला ही नेता होगा, जिसे देश व समाज से प्यार होगा। कोई विरला ही नेता होगा जो अपने कर्तव्य पथ पर होगा। अन्यथा सभी अपने पेट, घर व रिश्तेदारों के सुखसाज को सजाने में लगे हुए हैं। बाहर से तो सब 'बगुला-भगत' हैं, परन्तु अन्दर से जो दानवत्व, अभिमान, अहंकार उनमें भरा हुआ है, उसका पता तब

वलता है, जव उनसे व्यवहार कीजिए। आज का नानव अपने पदाधिकार का भी अनुचित उपयोग कर रहा है। जिन लोगो के कारण वह वहा तक पहुचा है, उन्ही के साथ वह 'तोता-चश्मी' दिखाने लग जाता है। क्या यही हमारा धर्म हमे कहता है? क्या इसी मे मनुष्य की महानता रह गई है? क्या इसी को हम अपना कर्तव्य कहते हैं? हम सब देश और समाज के सेवक हैं। हम पर देश, व समाज के दुख-दुःख का भार है। हम पर देश-समाज-सेवा का ऋण है। क्या हमे अपने ऊपर के ऋण और भार को इसी प्रकार चुकाना चाहिये?

इसमे किसका दोष कहा जाए। केवल इतना ही कह सकते हैं, कि हमारे हृदयो मे धर्म-स्थान रहा ही नही, जो हमे हमारा कर्तव्य वतलाता। हम एक पाव से कब तक चल सकेंगे। हमारी राजनीति, धर्मनीति के बिना लगडा रही है। जिस प्रकार शरीर के भार को दोनो पाव उठाते हैं, उसी प्रकार 'राज-रथ' के भी दो पहिये हैं। राजनीति और धर्म-नीति। दोनो नीतियो को लेकर हमे अपने राज्य का संचालन करना होगा। केवल कोरे कागज के लेखो

या केवल पदाधिकारों को प्राप्त करके ही हम सब कुछ प्राप्त नहीं कर सकेंगे। हमें अपने हृदयों में अपने कर्तव्यों का भी ध्यान रखना होगा। हम अपना कर्तव्य समझकर, कुछ करके ही देश, समाज को उन्नतिशील बना सकते हैं। लोगों में धर्म-नीति का प्रचार करके ही हम उनके अन्दर की बुराइयों को दूर कर सकेंगे। धर्मयुक्त बनकर ही हमें बुरे रास्तों से घृणा हो सकेगी। हृदय से घृणा दूर हुए विना हम बुरे रास्तों से दूर भी नहीं हो सकेंगे। हमें देश और समाज में फैले द्वेष, घृणा, हिंसा और अराजकता की प्रवृत्ति को धर्म-नीति अपनाकर दूर करना होगा। हमारे हर शहर व समाज में राज्य की तरफ से ऐसे स्थानों को स्थान देना होगा, जहां पर प्रतिदिन लोगों को 'मानव-धर्म' कर्तव्य-परायणता का उपदेश महत्व-पूर्वक समझाया जाएं।

मैं देश के नेताओं से प्रार्थना करता हूं कि वे देश व समाज-सुधार के लिए धर्म-नीति को भी स्थान देकर, प्रत्येक स्थानों पर राजनीति के साथ-धर्मनीति का महत्व भी प्रजा को समझायें। राज्य सरकारों के पास ऐसे भी विद्वानों को स्थान दिया

जाए, जो लोगो को उनके कर्तव्य का महत्व समझा-कर, धर्म व प्रेम से उनके अन्दर की छिपी हुई बुराइयों को दूर करने में सहायता करे। धर्म-नीति से ही लोगों के हृदय पवित्र हो सकेंगे।

जिस तरह परिवार में पिता अपने बालक को किसी बुरे आचरण के लिए धमकाता है और माता प्यार से उस बेटे को उसका महत्व समझाकर रास्ते पर लगाती है, इसी प्रकार हम राजनीति से धमकाकर और धर्मनीति से उसका महत्व समझाकर प्रेम-पूर्वक लोगों के हृदय से उनकी बुराइयों को शीघ्र ही दूर कर सकते है। केवल बाहर की पॉलिश पोतनेवाली चाल से हम लोगों के हृदयों पर विजय प्राप्त न कर सकेंगे। हमें धर्म व प्यार की नीति से ही हृदयों पर विजय प्राप्त करनी होगी। खाली पॉलिश हुए कार्ड-बोर्ड के बने खम्भों से हम कबतक मकान की रक्षा कर सकेंगे। जरा-सी हल्की हवा भी उसे गिरा सकती है। आज की राजनीति भी कार्ड-बोर्ड की दीवारो से बने मकान की तरह है। बाहर से सुन्दर पॉलिश करके उसे खूब सजाया गया है। इस प्रकार कबतक यह नीति हमें सुखी बनाये रख

सकेगी।

धर्मनीति से ही राजनीति की दृढ़ता प्राप्त हो सकेगी। केवल 'पिता' राजनीति के सम्मान से ही घर की व्यवस्था न बन सकेगी, बल्कि 'मां' धर्मनीति को भी अपने संग सम्मलित करके रखना होगा। पिता बाहर से कितना भी धन कमाये व व्यवस्था क्यों न बनाये किन्तु घर पर परिवार में मां नहीं है, या मां का अधिकार घर को सजाने में नहीं है, तो वह घर कभी बन ही नहीं सकता। अगर बन भी गया तो वहां सच्चा आनन्द नहीं आ सकता। मां का सम्मान किये बिना घर के कारोबार के बिगड़ने का डर ही रहता है। कूटनीति से ही राज्यों का संचालन पूर्णरूप से सफल न हो सकेगा। धर्मनीति को भी सम्मानित करना होगा।

धर्मनीति से लोगों के हृदय में आत्मबोध का प्रकाश प्रकट होगा। आत्मबोध से मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार कर सकेगा। हम कानून से जिन बुराइयों को रोकना चाहते हैं, वे धर्मनीति द्वारा स्वयं दूर होने लग जाएंगी। धर्मनीति से ही हम विश्व में सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा,

सरलता, नम्रता, विचार, सन्तोष, शम, दम सदाचार तथा आदर्श का प्रचार कर सकेंगे। ये हैं 'धर्मनीति' के तेरह अंग। जिनके द्वारा हम अपने घर, समाज और देश को स्वर्ग बना सकते हैं।

उपासना

दुर्लभो मानुषो देहा देहिनाम् क्षण भंगुर।
तत्रापि दुर्लभं मन्यै वैकुण्ठ प्रिय दर्शनः॥

भगवान की सृष्टि में सब जीवों में श्रेष्ठ मानव-शरीर है। परन्तु उससे भी श्रेष्ठ वह मानव है; जिसने इस दुर्लभ, साधन-सम्पन्न शरीर को पाकर साधन द्वारा उस परम पद को प्राप्त किया है, जो केवल मानव-शरीर के द्वारा ही प्राप्य है। मानव को उसका यह पवित्र दुर्लभ शरीर केवल 'उपासना' के ही लिए मिला था। क्योंकि सांसारिक सुख-भोग तो पशु-शरीरों के द्वारा भी भोगे जा सकते हैं। मानव-जीवन की पवित्रता तो उसे तब प्राप्य होगी, जबकि वह इस साधन-सम्पन्न मानव-शरीर के द्वारा अपने ध्येय को 'उपासना' के द्वारा प्राप्त करके सत्य वस्तु की खोज करता। मानव को उसका यह पवित्र मानव-शरीर, उसे केवल 'उपासना' के लिए ही नहीं मिला था। उपासना का भावार्थ उस वस्तु को लक्ष्य करता है, जिस वस्तु

की प्राप्ति के बाद और कुछ प्राप्त करना अवशेष (बाकी) नहीं रहता। वह वस्तु केवल वह 'शक्ति' है, जिसके द्वारा संसार-बन्धन से जीव मुक्त होकर परमसुख को प्राप्त हो जाता है। वह सुख सामान्य सांसारिक सुख नहीं हो सकता, बल्कि वह सुख है, जिसके अन्दर सभी सुख समा जाते हैं। संसार में सबसे बड़ा सुख मन की शान्ति है। मन की शान्ति मन के द्वारा रचित संकल्पों से बना हुआ सांसारिक सुख नहीं है। बल्कि संकल्पों की शान्ति से ही मन की शान्ति है। मन के द्वारा संकल्पों का प्राकट्य तबतक उपलब्ध नहीं है, जबतक कि मन को साधनों द्वारा रोका न जाए। उपासना का भावार्थ है, उस वस्तु के लिए साधन बनाना, जिससे मन को परम शान्ति प्राप्त हो जाए। 'उपासना' का दूसरा सरल भावार्थ यह है कि उसकी 'भक्ति' जिसके द्वारा जीव सांसारिक दुःखों से मुक्ति को प्राप्त हो जाए। वह है केवल एक 'आत्मा' जो अपने उपासक को प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करके, उसे जीवन का सही सच्चा आनन्द दे देती है। उपासना का तात्पर्य 'साधना' से भी हल हो जाता

है। वह साधन जिसके द्वारा जीव मन सहित कर्मेन्द्रियों पर विजय करता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त हो जाए। उपासना ही मानव का जीवन और जीवन का सुख है।

मानव-जीवन की उपासना उस सत्य वस्तु के लिए है जो अपरिवर्तनशील, एक रस, सत्य तथा सदैव स्थिर है। वह सत्य वस्तु उसकी अपनी ही आत्मा है। जोकि प्रकृति के आवरण में आकर उस के अपने स्वरूप से भ्रम के कारण भिन्न दृष्टिगोचर हो रही है ? 'आत्मा' की उपासना ही मानव की उपासना है। अपने स्वरूप को प्राप्त करने के लिए जीव जो भी साधना बनाता है, वह सब उपासन में ही लीन है। जीव जब जीव-गति में भ्रमण करता है तभी तक वह दुखी है और जैसे ही जीव उपासना के द्वारा अपने स्वरूप का 'बोध' कर लेता है, वैसे ही जीव गति से मुक्त होकर आत्म-भाव को प्राप्त हो जाता है। जीव की गति ही 'आत्मा' है। आत्मा सदैव अमर, परमसुखरूप, परम प्रकाशपुञ्ज और परम शान्तिस्वरूप है। आत्म-बोध प्राप्त जीव भी आत्मस्वरूप में तल्लीन होकर उसी के स्वरूप को

प्राप्त कर परम सुख शान्ति स्वरूप बन जाता है। बार-बार आत्मभाव की भावना बनाने से भृंगी की तरह जीव भी जीव न रह कर आत्मभाव में ही लीन होकर परम शान्ति का अनुभव करने लगता है। जीव और आत्मा में क्या भेद है, यह आप आगे चलकर ज्ञात करेंगे। जीव जबतक अपने स्वरूप को भूलकर प्राकृतिक साधनों में सुख ढूंढ़ता है, तब-तक ही वह दुःखी है। क्योंकि सभी प्राकृतिक सुख परिवर्तनशील हैं। उनसे प्राप्त सुख भी समय पर परिवर्तनता के कारण परिवर्तित होकर मिट जाता है। यह सब, जीव भ्रम के कारण ही दुख को प्राप्त होता रहता है। प्राकृतिक बुद्धि के ही कारण हमें संसार में गुण-अवगुण, पाप-पुण्य, ऊंच-नीच, अच्छा-बुरा, विद्वान-मूर्ख नजर आता रहता है। क्योंकि ये सब गुण प्रकृति के हैं। आत्मा के भाव इससे भिन्न हैं। जिस समय जीव साधन-सम्पन्न होकर आत्मीय दृष्टि को प्राप्त हो जाता है, तब वह उपर्युक्त सभी परिवर्तनशील दोषों से मुक्त होकर परमसुख का अनुभव करने लग जाता है। आत्मीय-सुख ही परम सुख है, जो कि अपरिवर्तन-शील परम

सुख शान्ति का स्वरूप है। आत्मीय व्यवहार ही परम सुन्दर व्यवहार और सुखकर है। आत्मीय दृष्टि ही दिव्य दृष्टि है। आत्मबोध ही परमबोध है। आत्मीय भाव की प्राप्ति ही 'उपासना' का अमर फल है। जीव गति से मुक्त होना ही मुक्ति कहलाती है, जो कि जीवित अवस्था में ही साधन द्वारा प्राप्त हो जाती है।

उपासना के तीन मुख्य अंग हैं—ध्यान, ध्येय और धारणा।

ध्यान—किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विचार उत्पन्न होना। किसी भूली हुई वस्तु का याद आना 'ध्यान' होना। मानव का ध्यान मानवता की प्राप्ति की ओर जाना। अपने सत्य स्वरूप के बोध की ओर ध्यान जाना ही ध्यान कहलाता है।

ध्येय—किसी लक्ष्य को ध्येय कहते हैं। मानव का लक्ष्य सत्य को प्राप्त करना है।

धारणा—किसी ध्येय प्राप्ति के लिए निश्चय कर लेना या ध्येय के लिए दृढ़ विचार लेकर चलने को धारणा कहते हैं। मैं इसे प्राप्त करके रहूंगा,

ऐसे निश्चय को धारणा कहते हैं। अपने ध्येय को प्राप्ति में लग जाना ही सच्ची धारणा कहलाती है। मानव-जीवन की धारणा अपने स्वरूप को प्राप्त होना कहलाती है।

मैं आत्मा हूं। जीव नहीं। मेरा स्वरूप अपरिवर्तन शील है। मैं परिवर्तन-शील क्यों बन गया? मेरा मानव-जीवन मुझे किसी सत्य वस्तु को प्राप्त करने के लिए मिला है। यह 'ध्यान' कहलाता है। मेरा मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? मेरे जीवन का केन्द्र कहां है? मैं अपने स्थान को प्राप्त करूंगा। मेरे जीवन का 'ध्येय' मानवता प्राप्त करना है। यह 'ध्येय' कहलाता है। मुझे अपने ध्येय को प्राप्त करके ही सुख लेना है। मैं सांसारिक, मोहादिक भ्रमजाल में न उलझकर अपने ध्येय की ही ओर सब प्रकार के कष्टों का सामना करते हुए भी चलता रहूंगा। यह 'धारणा' कहलाती है।

प्रिय बन्धुवर! आपको उपासना के विषय में कुछ बतलाने से पहले मैं जीव के विषय में कुछ अपना अनुभव बतलाना चाहता हूं, ताकि आप

जीव के विषय मे कुछ समझकर जीव के द्वारा की गई उपासना को समझ सकेंगे। जीव उपासना से क्या प्राप्त करता है ? उससे क्या लाभ है ? तथा जीव और आत्मा का अन्तर क्या और कितना है ? यह मैं आपको इसके बाद ही एक-एक करके समझाने का प्रयास करूगा।

जीव क्या है ?

यह तो आप भली प्रकार जानते हैं कि आत्मा एक शक्ति है, जो कि निर्लेप, निर्गुण, निस्सग, निराकार, निर्विकार और अकर्मा है। अगर आत्मा के ये लक्षण हैं तो फिर इस शरीर में इच्छाए, सकल्प, मनन, दु ख-सुख का अनुभव कौन करता है ? यह सब गति जीव की ही है। जीव ही सकल्प, विकल्प से सृष्टि की रचना करता है। जीव ही दु ख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण की गति को प्राप्त होता है। जीव का स्वरूप दो के मिलन (सयोग) से होता है। अकेला शरीर भी कुछ करने के योग्य नही है। इसलिए शरीर भी जीव नही है। जीव-आत्मा और शरीर के सयोग से बनता है, जो कि गुण दोषो को धारण करता है। जिस प्रकार से

माता और पिता के संयोग से पुत्र का स्वरूप बनता है। बिजली के करंट और बल्व के संयोग से प्रकाश होता है। पानी और चीनी के संयोग से शर्बत बनता है। ठीक इसी प्रकार से 'आत्मा' रूपी करंट (पावर-शक्ति) और शरीर रूपी बल्व के मिलन से प्रकाश रूपी जीव का स्वरूप प्रकट होता है। जिस प्रकार आत्मा और शरीर के योग से जीव का स्वरूप बनता है। उसी तरह पांचों तत्वों के संयोग से शरीर में मन (चित्) काम, क्रोध, मोह, लोभ, और अहंकार का कारण प्रकट होता है, जो कि इस शरीर में निवास करने वाले जीव के शत्रु हैं। जो कि जीव को उसके असली स्वरूप से दूर करके, प्राकृतिक भ्रम में डाल देते हैं। इन्हीं महान शत्रुओं के कारण जीव अपने स्वरूप को व अपनी शक्ति को भूलकर प्राकृतिक सुख-दुखों के जाल में ही अपने को बांधे रखता है। इस शरीर में दो शक्तियां काम करती हैं। एक आत्मिक और दूसरी प्राकृतिक। दोनों शक्तियां जीव को शक्ति प्रदान करती रहती हैं। प्राकृतिक शक्ति से जीव को सांसारिक क्षणिक सुखों का स्वाद और आत्मिक शक्ति से

जीव को अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। जबतक जीव प्राकृतिक सुखों को ही सुख मानकर आत्मिक शक्ति के विषय में कुछ नहीं जानता व (अनुभव) करता, तभी तक वह अक्षय सुख से वंचित रहता है। इन दोनों शक्तियों के प्रभाव से मन की भी दो धारायें वन जाती है। एक 'सत्य' (आत्मिक) और एक 'असत्य' (प्राकृतिक)। प्राकृतिक असत्य क्यों है? क्योंकि प्राकृतिक के सभी खेल परिवर्तनशील है। बनते और विगड़ते रहते है। परन्तु आत्मिक भाव सभी अपरिवर्तनशील, अमर, निर्दोप, गुण-अवगुणों से रहित, शुद्ध और सत्य है। इस शरीर के द्वारा किए सभी कर्मों का फल धुऐं की तरह वादल वनकर मन पर छा जाता है, जिसके कारण मन अपनी निर्मलता खोकर सत्य (आत्मिक) शक्ति से हीन वना रहता है। प्राकृतिक प्रपंचों में अधिक समय तक स्मरण करने के कारण जीव अपनी आत्मिक शक्ति का उपयोग करना भूल जाता है, जिसके फल स्वरूप जीव अमरत्व पद को छोड़कर इन क्षणिक सुख-दुःख और जीवन-मरण को शरीर के साथ-साथ प्राप्त करता रहता है। संग का दोप

तो हर किसी पर प्रभाव डालता ही है। जीव शरीर को अपना स्वरूप मान लेने के कारण ही जन्म-मरण, दुःख-सुख, चिन्ता-ग्लानि, द्वेष-राग, वित्त, काम, क्रोध, मोह, लोभ, और अहंकार के बन्धन में पड़ा समय व्यतीत करता रहता है। काल नाम की वस्तु शरीर को ही क्षय करती है, न कि आत्मा को। इसीलिए जीव भी शरीर सम्बन्ध के ही कारण से काल की गति को प्राप्त होकर, कभी जन्म और कभी मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। जीव जबतक अपने शुद्ध चेतन आत्मा के स्वरूप को प्राप्त नहीं कर लेता तबतक वह संसार और शरीर बन्धन से मुक्त नहीं होता। क्योंकि मुक्ति नाम की संसार में न तो कोई वस्तु ही है न कोई स्थान। बल्कि जीव का प्राकृतिक बन्धन से मुक्त होकर आत्म-भाव को प्राप्त होना ही मुक्ति कहलाती है। जीव इस शरीर को अपना स्वरूप समझकर ही दुःख-सुख का अनुभव करता है। अगर वह इस शरीर को अपना स्वरूप न मानकर, इसे अपना निवास-स्थान मानकर रहने लग जाये तो, शरीर दुःख-सुख से स्वयं ही मुक्ति को प्राप्त हो जाये। यही तो जीव

का भ्रम उसी प्रकार से है, जिस तरह मकान मे रहने वाले मनुष्य अपने को मकान समझ ले तो यह विचार उनकी अज्ञानता का साक्षात प्रमाण है। ऐसा मान लेने से मकान के साथ होने वाले प्राकृतिक धूप, गर्मी, नर्मी, शीत और क्षय का प्रभाव मकान मे रहने वालो को भी होने लग जायेगा। क्योकि यदि मनुष्य मकान को अपना स्वरूप मान बैठे तो मकान के साथ होने वाले हर व्यवहार को वह अपने साथ होना मान बैठेगा। ठीक इसी प्रकार जीव भी जब इस शरीर को अपना स्वरूप मान बैठता है, तभी वह शरीर के साथ होने वाले, परिवर्तनो को अपने साथ हुआ समझने लगता है। शरीर के साथ-साथ वह अपने को बालक, वृद्ध, जन्म, मरण की गति वाला मानने लग जाता है। तभी तो इस भ्रम के कारण जीव के ऊपर शरीर मे निवास करने वाले जीव के परम वैरी काम, क्रोध, मद, लोभ, अहकार, आक्रमण करके उसे महा मोह मे डालकर, ससार रूपी दल-दल मे फसा देते है। इन्ही शत्रुओ से घिरा हुआ जीव अपने ध्येय से विचलित होकर अलक्ष्य की ओर जाकर नष्ट-भ्रष्ट

होने लग जाता है।

जीव अगर जरा-सा अपनी शक्ति को काम में लाकर, अपनी सत्य बुद्धि को उदित करे, और सत्य विचार द्वारा काम ले तो वह इन अपने परम्परा से चले आ रहे शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर अमरत्व पद को प्राप्त हो जाये।

जीव को प्रकृति और प्रकृति से सम्बन्धित सभी दोषों से मुक्त होने के लिए ही 'सत्य' की उपासना करनी पड़ती है। जिस प्रकार प्राकृतिक दोषों की फौज जीव को भ्रम में डाल देती है, उसी तरह जीव को आत्मिक शक्ति प्रदान करने वाले 'सत्य' के सेनापति सत्य, न्याय, अहिंसा, क्षमा, दया, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सरलता, नम्रता, सन्तोष और विचार द्वारा प्राकृतिक बन्धनों से मुक्तकर उसे उसकी सत्य वस्तु प्राप्त करा देते हैं। मानव के इस शरीर में सत्य और असत्य दो वृक्ष हैं। जब-जब जीव असत्य वृक्ष के नीचे आराम पाने के विचार से जाता है, तब-तब असत्य वृक्ष पर बैठे मायावी पक्षी जीव को भ्रमित कर पथ-भ्रष्ट कर देते हैं। तब जीव अपने ध्येय की ओर जाने से रुक जाता है तथा उसी

असत्य वृक्ष के नीचे पड़ा-पड़ा मोह की प्रगाढ़ निद्रा में सोकर अपनी चेतन बुद्धि को खो बैठता है। परन्तु ज्यों ही जीव सुन्दर सत्संग या महापुरुष का संग पाकर मोह निद्रा से जागकर जब सत्य वृक्ष के नीचे आ जाता है, तब सत्य वृक्ष पर बैठे सुन्दर पक्षी जीव को उसके स्वरूप का और ध्येय का ज्ञान करा करके, उसे उसके लक्ष्य की ओर जाने में सहायता देते हैं। असत्य के महान् बलकारी प्राकृतिक सेनापति मायावी और क्षणिक शक्ति वाले हैं। वे सत्य के महान दृढ निश्चय वाले सेनापतियों के आगे थोड़ा-सा युद्ध करके हार जाते है और अपनी माया सहित विलीन हो जाते है।

प्रिय बन्धुओ! आप जीव की गति के विषय में भली प्रकार से समझ गये होंगे कि जीव किस कारण से बन्धन में पड़ा और जीव बनकर दुःख उठाता रहता है। अब मैं थोड़ा शरीर और आत्मा का भाव भी वर्णन करूंगा। उसके बाद मैं आपको यह बतलाऊंगा कि जीव कैसे जीव न रहकर आत्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। और कैसे बन्धनों से मुक्त होकर परम सुख का अनुभव करता है।

उपासना क्या है और कैसी होनी चाहिए; यह आप आगे चलकर मालूम करोगे।

शरीर

जिस प्रकार आत्मा और शरीर के संयोग से जीव का स्वरूप बनता है, उसी प्रकार पांच तत्वों आकाश, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के सम्मिलन अथवा योग से शरीर का आकार बनता है। इन्हीं पांच तत्वों के मिश्रण भाव से तीन महान् गुण: सत्, रज, तम की भी उत्पत्ति होती है जो कि शरीर पर लगी कर्मेन्द्रियों द्वारा मन के संयोग से कर्म कराती रहती है। शरीर में ये तीनों गुण भी अपने परिवर्तनशील स्वभाव के कारण घटते-बढ़ते रहते हैं। इन तीनों गुणों के स्वभाव भी अलग-अलग हैं जो कि अपने-अपने स्वभाव के भाव से मन पर प्रभाव डालते रहते हैं। शरीर में जिस वक्त देर तक जिस गुण का प्रभाव अधिक रहता है, उतनी देर तक मन का स्वभाव और स्वरूप भी उसी प्रकार का बन जाता है। शरीर भी इन तीनों गुणों की प्रधानता में बाल्य, युवा, वृद्धावस्था को प्राप्त होकर क्षय हो जाता है। सतोगुण को अधिक

वर्तने वाला शरीर लम्बी अवधि वाला बन जाता है और रज तथा तम वृत्ति में रमण करने वाला शरीर अधिक भोग-विलास के कारण शीघ्र ही क्षय हो जाता है। विचारवान पुरुष अपने विचार विवेक-शक्ति के द्वारा बुद्धि-बल से; इन तीनों गुणों पर अपना प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। वह इन गुणों को अपनी इच्छा के अनुसार बर्तने वाला बन कर और इनके द्वारा होने वाले हानि-लाभ को समझ कर, उसी गुण को शरीर में अधिक वर्तता है, जिससे शरीर को लाभ प्राप्त होता है। सतोगुण कुछ अधिक सुन्दर शान्तिदायक गुण है। सतोगुणी बुद्धि में बर्तने-वाला शरीर अधिक लाभ उठाता है। क्योंकि सतो-गुणी बुद्धि द्वारा किए हुए कर्मों का फल भी सतो-गुणी ही होता है। जिसका प्रभाव मन पर पड़ता है। गुणों के ही प्रभाव से मन और बुद्धि पर भी उसी प्रकार का प्रभाव होता है जिस प्रकार का वह गुण होता है। रज और तम में रहने वाला बुद्धि और मन अशान्त, असन्तोषी, बहुत कामनाओं वाला होता है। परन्तु सतोगुण में बर्तने वाला मन, बुद्धि इससे भिन्न, शान्त, सन्तोषवान्, कम कामना और

सत्य विचार वाला होता है। परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि जीव जब तक इन गुणों पर भी विजय प्राप्त नहीं कर लेता तब तक जीवन-मुक्ति की गति को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि गुणों का स्वभाव भी परिवर्तनशील होने के कारण जब जीव इन गुणों में वर्तता है, तब वह भी गुणों के साथ-साथ अपने को भी परिवर्तनशील ही पाता है। जीव को तो मुक्ति उस वक्त तक प्राप्त नहीं होती, जब तक वह इस शरीर और शरीर के साथ के सभी गुणों-अवगुणों से मुक्त नहीं हो जाता। खैर, यह विषय तो आगे चलकर सुलझ जायेगा, अभी तो आप शरीर-संबंध में ही कुछ समझ लें।

यह तो आप समझ ही गये हैं कि शरीर पांच तत्वों से बना एक मन्दिर (मकान) है। परन्तु यह है बड़ा ही उपयोगी और इस पर लगी कर्मेन्द्रियां भी महान् उपयोगी हैं। पर यह सब तब उपयोगी और महान् है जबकि इसका उचित उपयोग किया जाय। इस शरीर और शरीर पर लगी कर्मेन्द्रियों का हम जितना अनुचित उपयोग करते हैं, उतना ही यह लाभप्रद के अतिरिक्त हानिप्रद भी हो जाता

है। जिस प्रकार एक मकान को ही लीजिये। वह हमारे लिये उपयोगी ही नही वल्कि हमारा रक्षक भी है। हमे गर्मी, सर्दी, और भी नाना प्रकार के भयो से हमारी रक्षा करता है। और यदि हम इस का अनुचित उपयोग करे तो वही लाभप्रद मकान हमारे लिए हानिकारक व भयप्रद बन जाता है। इसी प्रकार जब हम इस शरीर व कर्मेन्द्रियो के द्वारा जिसलिए वह बनी है, उसी तरह से उनका उचित उपयोग नही करते है तो वह हानि, भय और दु खप्रद बन जाता है। यह शरीर रूपी मकान हमारे जीव के निवास करने के लिए बना हुआ है। यह शरीर साधन-सम्पन्नता के साथ साथ जीव के सुख-दु ख का भी कारण बन जाता है। जीव चाहे तो इस शरीर के द्वारा वह कर्म कर सकता है, जो कि दुर्लभ होते हुए भी सुलभ बन जाता है। जीव यदि अपनी बुद्धि के उचित उपयोग के साथ इस शरीर का उचित उपयोग करे तो वह असाध्य को भी साध्य बना लेता है। यह शरीर महान् यत्रो का यत्रालय है। शरीर पर लगे इन यत्रो को यदि उचित ढग से उपयोग किया जाय तो इस शरीर के

द्वारा सांसारिक सुख के साथ-साथ ईश्वरीय आनन्द भी जीव ले सकता है। इस शरीर के साधनों का उचित व अनुचित उपयोग ही जीव के सुख-दुख, बन्धन, मुक्ति का कारण बनता है।

यह मानव शरीर मनुष्य को इसीलिए दिया है ताकि वह अपने विवेक बल से इसके द्वारा कर्म करता हुआ अपने को व संसार के जीवों को दुःख-सागर से बाहर निकाल दे। शरीर चाहे मानव का हो चाहे पशु का हो, सबके अन्दर तत्वों और गुणों की ही प्रधानता है। पांचों तत्वों के परिपूर्ण योग से केवल मानव शरीर ही बना हुआ है। जबकि और पशु शरीरों में तत्वों की घट-बढ़ है। इसीलिए मानव शरीर पूर्ण और पशु शरीर अपूर्ण है। मानव-शरीर साधनयुक्त है और पशु-शरीर साधनहीन है। पशु चाहकर भी कुछ नहीं कर सकता, जबकि मनुष्य चाहकर सब कुछ कर सकता है। शरीरों के स्वभाव और आकृति देश, जलवायु तथा शरीर के अन्दर के गुणों के कारण भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु शरीर के अन्दर निवास करने वाले जीव का स्वरूप सर्वत्र एक ही है। हां, जीव के स्वभाव में जो भिन्नता

पाई जाती है, इसमें प्रमुख कारण रजो, तमो और सतोगुण का है। जिस जीव में जिस गुण का अंश और प्रभाव अधिक है, वह उसी प्रकार के स्वभाव का है, और स्वभाव भी गुणों की भांति परिवर्तनशील है। जो स्वभाव आज है, वह कल नहीं रहता। इसका कारण परिवर्तनशील प्रकृति और उसके गुणों का है। इसलिए बुद्धिमान लोग इस परिवर्तनशील स्वभाव गुणों-अवगुणों का अधिक विचार न करके जीव का सत्कार समानता से करते है। क्योंकि वे जानते हैं, जो गुण या अवगुण शरीर आदि स्वभाव में आज है, वह कल नही रहेगा। परन्तु जीव तो सदैव ही रहता है। इसलिए सदैव, स्थिर, सत्य, वस्तु का ही विद्वान सत्कार करते हैं। विद्वान की बुद्धि गुणों-अवगुणों में भ्रमण न कर सदैव आत्म-बुद्धि से ही संसार और शरीर में रमण करती है।

प्रिय बन्धुओ ! यह मानव-शरीर दुर्लभ है, परन्तु है क्षणिक अवधिवाला। इसलिए इसे भोगों में क्षय न करके इससे कुछ लाभ प्राप्त कर लो। इस शरीर से कुछ उत्तम कर्म कर लो जो आपके भावी जीवन-निर्माण में सहायक बन सके। इस

परमपद की प्राप्ति भी जीव को आत्मा की गति को ही प्राप्त हो जाता है। क्योंकि आत्मा स्वयं 'परमसुख', 'परमपद' रूप है। आत्म-गति को प्राप्त होना ही परम परमात्मा की गति को प्राप्त होना कहलाता है।

मानव और उसका धर्म

संसार में मानव जाति ने अपने समाज को सुखी बनाने के लिए कुछ नियम बनाये थे जिन्हें मनुष्य 'धर्म' कह कर पुकारता है। धर्म के जिन नियमों पर चलकर मानव समाज व अन्य सभी सुखी बन सकते थे वे नियम थे मानवता की रक्षा के लिए, और सम्पूर्ण जीवों की सुख शान्ति के लिए। कुछ समय तक मानव समाज उचित ढंग से इन नियमों का पालन करता रहा। परन्तु ज्यों-ज्यों मानव ने संसार-सुख ढूंढने में उन्नति की, त्यों त्यों वह अपने धर्म (कर्तव्य) को भूलने लगा और अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए वह नियमों व कर्तव्यों का भी उल्लंघन करने लगा। वह इंसान जो कभी कर्तव्य के लिए व मानव-धर्म रक्षा के लिए अपने प्राणों का भी परित्याग कर देता

न उपासना ही शेष रहती है। आत्म-भाव को प्राप्त जीव फिर शरीर-कर्मों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। फिर शरीर शरीरों में; कर्म कर्मों में; गुण, गुणों में बर्तते हुए भी, जीव को मुक्त कर देते हैं।

आत्मा और प्रकृति में भेद परिवर्तन और अपरिवर्तन का ही नहीं है बल्कि आत्मा निर्विकार, निर्गुण, निराकार, असंग, अभोक्ता और अकर्मा है। जब कि प्रकृति के गुण, कर्म, स्वभाव, सब परिवर्तनशील, साकार, सगुण, कर्मा, भोक्ता, और विकारी हैं। आत्मा की शक्ति वह शक्ति है, जो शरीर को महान शक्तिशाली बनाती है। शरीर भी इसी शक्ति के द्वारा शक्ति प्राप्त करता है। जीव को जीव-भाव से मुक्त होने के लिए आत्म-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। जीव जिस प्रकार से प्राकृतिक साधनों में सुख ढूंढ़ता है, यदि वह उधर न जाकर आत्म-भाव को प्राप्त कर ले तो परमसुख का अनुभव करता है। जीव प्रकृति की उपासना न करके यदि आत्मा की उपासना करे तो उसे परमसुख और परमशान्ति प्राप्त हो जाती है।

परमपद की प्राप्ति भी जीव को आत्मा की गति को ही प्राप्त हो जाता है। क्योंकि आत्मा स्वयं 'परमसुख', 'परमपद' रूप है। आत्म-गति को प्राप्त होना ही परम परमात्मा की गति को प्राप्त होना कहलाता है।

मानव और उसका धर्म

संसार में मानव जाति ने अपने समाज को सुखी बनाने के लिए कुछ नियम बनाये थे जिन्हें मनुष्य 'धर्म' कह कर पुकारता है। धर्म के जिन नियमों पर चलकर मानव समाज व अन्य सभी सुखी बन सकते थे वे नियम थे मानवता की रक्षा के लिए, और सम्पूर्ण जीवों की सुख शान्ति के लिए। कुछ समय तक मानव समाज उचित ढंग से इन नियमों का पालन करता रहा। परन्तु ज्यों-ज्यों मानव ने संसार-सुख ढूंढ़ने में उन्नति की, त्यों त्यों वह अपने धर्म (कर्तव्य) को भूलने लगा और अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए वह नियमों व कर्तव्यों का भी उल्लंघन करने लगा। वह इंसान जो कभी कर्तव्य के लिए व मानव-धर्म रक्षा के लिए अपने प्राणों का भी परित्याग कर देता

विश्व में व मानव-समाज में अशान्ति, दु:ख, ग्लानि, अराजकता, शासनहीनता, दीनता, हीनता, द्वेष, मर्यादाहीनता, चरित्रहीनता और अश्लीलता के बादल छा गये हैं। आज का मानव अपने कर्तव्यों को भूलकर भोगों की ज्वाला में जल रहा है। भौतिकवाद का साम्राज्य विश्व पर राज करके आत्मीयता के भाव का विनाश कर रहा है।

आज का मानव चिर, सत्य और स्थिर सुख को छोड़कर क्षणिक सुखों को, जो दु:खकर है, प्राप्त करने में अपनी मानवीय शक्ति को विनष्ट कर रहा है। चारों ओर स्वार्थ का बाजार गरम हो रहा है। परन्तु बेचारा भोला मानव यह भूल गया है कि यह 'स्वार्थ' की आग तेरे घर को जलाने में लगी हुई है।

आज के स्वार्थ का शिकार मनुष्य साधन-सम्पन्न होकर भी दीन, हीन और अशान्त है। भोला इन्सान अपनी चिरशान्ति से कोसों दूर हो चुका है। शान्ति नाम की मानव की महान् निधि आज संसार से मिटती चली जा रही है। जिस परम शांति की प्राप्ति के लिए उसे यह मानव-

था, वही इन्सान धीरे-धीरे स्वार्थपरता की आग में अपने आप को जलाता हुआ संसार को भी दुखी बनाने लगा। स्वार्थ से परिपूर्ण इन्सान धीरे-धीरे अपनी सुख-सामग्री को सजाने के लिए दूसरों के सुखों को भी मिटाने लगा। यश, कीर्ति, वैभव का भूखा इन्सान धीरे-धीरे अपने को अलग-अलग टुकड़ों में बांट कर अलग-अलग समाज के रूप में अपनी शक्ति को नष्ट करने लगा। धीरे-धीरे मानव का संगठित समाज भिन्न-भिन्न टुकड़ों में भिन्न-भिन्न नामों से भी पुकारा जाने लगा, जिसके कारण से मानव-जाति में आपसी द्वेष, राग, और फूट का अंकुर फूटने लगा। आज वही फूट का बीज इतनी अधिक मात्रा में व्यापक हो गया कि हर इन्सान से लेकर विश्व भर में प्रकोप छा गया है। आज का मानव स्वार्थपरता के कारण अपनी मानव-शक्ति को खोकर पतन की ओर जा रहा है। अलग-अलग समाज के नेताओं ने भी अपने नाम, यश, कीर्ति, ख्याति प्राप्ति के लिए मानव अधिकारों का पतन कर दिया है। आज 'मानवता' 'दानवता' में बदल गई है जिसके कारण आज

विश्व में व मानव-समाज में अशान्ति, दु:ख, ग्लानि, अराजकता, शासनहीनता, दीनता, हीनता, द्वेष, मर्यादाहीनता, चरित्रहीनता और अश्लीलता के बादल छा गये हैं। आज का मानव अपने कर्तव्यों को भूलकर भोगों की ज्वाला में जल रहा है। भौतिकवाद का साम्राज्य विश्व पर राज करके आत्मीयता के भाव का विनाश कर रहा है।

आज का मानव चिर, सत्य और स्थिर सुख को छोड़कर क्षणिक सुखों को, जो दु:खकर है, प्राप्त करने में अपनी मानवीय शक्ति को विनष्ट कर रहा है। चारों ओर स्वार्थ का बाजार गरम हो रहा है। परन्तु बेचारा भोला मानव यह भूल गया है कि यह 'स्वार्थ' की आग तेरे घर को जलाने में लगी हुई है।

आज के स्वार्थ का शिकार मनुष्य साधन-सम्पन्न होकर भी दीन, हीन और अशान्त है। भोला इन्सान अपनी चिरशान्ति से कोसों दूर हो चुका है। शान्ति नाम की मानव की महान् निधि आज संसार से मिटती चली जा रही है। जिस परम शांति की प्राप्ति के लिए उसे यह मान

शरीर मिला था, वह सुख-शान्ति मानव के हाथों ही नाश हो रही है। मानव-जीवन का जो सच्चा सुख और सच्चा धन था, उसे आज का स्वार्थी इन्सान अपने ही हाथों क्षणिक भोगों के कारण नष्ट कर रहा है। आज का मानव अब 'मानव-धर्म' रक्षा का 'रक्षक' न रह कर भक्षक वन गया है। जिस 'धर्म' और जिन 'मानव-नियमों' का पालन करते हुए उसे अपने मानव-जीवन को पवित्र करना था, उसी का वह पतन करने में लगा हुआ है। आज के मानव समाज में सब कुछ आडम्बर हो गया है। मानव-समाज में नियम, उसूल, कानून, नीति सभी कुछ कहने मात्र के लिए रह गया है। यथार्थ और चरितार्थ रूप में अब कुछ शेष नहीं है। मानव की स्वार्थपरता की चालबाजियों ने बाजीगर की तरह सत्यता को असत्यता में बदल दिया है। आज का चालबाजियों और चालाकियों से परिपूर्ण मानव, अपनी इस धृष्टता की सफलता पर फूला नहीं समा रहा है। भोला इन्सान (मानव) यह भूल गया है क यह सब कब तक चल सकेगा। अन्त में एक न एक दिन मानवता अपनाये बिना सच्चे. सुख

अनुभव कर ही न सकेगा। मानवता ही मनुष्य का सच्चा स्थिर सुख है। ऐ चतुर इन्सान! एक न एक दिन तो तुझे अपने द्वारा रचे इन चालबाजियो के जाल से दुःख होगा ही। तब एक दिन वह भी आयेगा जब तू इससे मुक्त होने के लिए मानवता को अपनायेगा ही।

मानव जाति के लोगो! आपकी जाति मानव-जाति है, आपका धर्म मानव-धर्म है। मानवता प्राप्त करना ही आपका ध्येय और लक्ष्य है। मानव-धर्म के जो लक्षण हैं, उन्हे अपने जीवन में अपनाइयेगा। उस से आपको परमसुख और परमशान्ति की प्राप्ति होगी। इस मानव जीवन को कलंकित होने से बचा लीजियेगा। अपने इस शरीर से दुर्गन्धपूर्ण कर्म और विचारों का परित्याग कर दीजियेगा। मानव-जीवन का जो 'ध्येय' और 'लक्ष्य' है, उसे प्राप्त करने के लिए साधन पूर्वक उपासना कीजिये। मानव-जीवन की 'पवित्रता' और 'सफलता' जिस सत्य, न्याय, अहिंसा के मार्ग पर चल कर प्राप्त होती है, उसे अपना लीजिये। यह मानव-शरीर दुर्लभ और पवित्र है। यह जीवन आपको 'सत्य'

प्राप्ति के ही लिए मिला हुआ है। आपके मानव-जीवन के आगे कोई कर्तव्य है। वह तुम्हें बुला रहा है। उस कर्तव्य रथ पर सवार होकर उसे 'सत्य-पथ' पर चलाइयेगा। आपका मानव-जीवन तीन ऋणों से ऋणी है। वह क्या है? उसे जान लीजिये। मनुष्य पर तीन 'जननी' 'शरीर' और 'समाज' ऋण हैं। उनसे उऋण हो जाइयेगा। आपका यह जीवन केवल आपके ही सुख-साज को सजाने के लिए नहीं है। बल्कि इस शरीर के द्वारा आपको जननी, समाज का भी सुख बनाना है। जननी ने आपको जन्म दिया है। शरीर आपके रहने का मन्दिर है। समाज से आप शिक्षा व जीवन प्राप्त करते हैं। इन तीनों से उद्धार के लिये भी प्रयत्न कीजियेगा। यही कर्तव्य आपको बुला रहा है। आपने ही विलास, प्रमाद में, मोह निद्रा में मत सो जाइयेगा। बल्कि जिस कार्य के लिए यह मानव-जीवन मिला है, उस पर इसे लगा कर, इस शरीर के ऋण से उऋण हो जाइयेगा। आपका सुख दूसरों को सुख पहुंचाने में है। आपका दुःख दूसरों के दुख को दूर करने से मिट जायेगा। आपका जीवन

दूसरों को जीवन-दान देने में है। आपका वैभव दूसरों को सुख पहुंचाने में है। प्यारे मानव ! जरा विचारकर और अपने स्वार्थ को त्याग करके 'परस्वार्थ' में रत हो। परस्वार्थ में रत होते ही जो आनन्द का अनुभव तु करेगा, वह स्वार्थ से कहीं लाखों गुना बढ़कर होगा। एक बार 'केवल' एक बार आंख खोलकर देख तो सही। कितना 'आनन्द' और सुख है इसमें।

यह सत्य है कि संसार और उसके ये भोले लोग अपने ही स्वार्थ-सुख सजाने में लगे हुए हैं, और इन्हीं की तरह तू भी कर रहा है। परन्तु प्यारे ! इनकी जो गति है, वह पशु गति है। तू अपने को 'सुधार'। तेरे सुधरते ही सब सुधर जायेंगे। यहां तू किसकी प्रतीक्षा करता है। यहां तो स्वार्थ का ही चारों तरफ बाजार लगा हुआ है। इस स्वार्थ के बाजार में अपने 'मानव-जीवन' का सौदा मत कर। यह तेरे स्वार्थ के साथी अपना स्वार्थ पूर्ण करते ही तुझे छोड़ जायेंगे। मानव ! होश में आ। अपने कर्तव्य-रथ की बाग डोर सम्हाल ले तेरा बेड़ा इस रथ में सवार होकर ही पार होगा।

हमारी उपासना

हमारी 'उपासना' 'आत्म-बोध' के लिए होनी चाहिए। क्योंकि यह मानव-शरीर हमें प्राकृतिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए ही मिला था। वास्तव में इस मानव-शरीर में रहने वाला 'जीव' जिन साधनों द्वारा अपने को जीव-भाव से मुक्त करता है, उन्हीं साधनों को 'उपासना' कहते हैं। 'जीव' को 'आत्म-बोध' से ईश्वरीय बोध हो जाता है। इसीलिए बाहर कहीं न ढूंढ़ कर इस शरीर में रहने वाले आत्मा को ही ढूंढने से जीव को ईश्वरीय आनन्द प्राप्त हो जाता है। आत्मा का निवास तो सभी जीवों में है परन्तु वह अपने आत्म-बोध को प्राप्त होने में असमर्थ है क्योंकि उनके पास उनका पशु-शरीर इस योग्य नहीं कि वह साधन कर सकें। मानव-शरीर इसीलिए श्रेष्ठ है कि वह साधन-सम्पन्न है। मानव ही एक ऐसा महान जीव है जो कि इस शरीर और बुद्धि द्वारा यत्न करके 'आत्म-भाव' को प्राप्त कर लेता है। वास्तव में आत्मानन्द

का आनन्द क्या है ? यह वही महापुरुष जान सकते हैं, जिन्हें इसका आनन्द प्राप्त हो चुका है। सच्चा सुख जो आनन्द है, वह जीव को आत्मानन्द में ही प्राप्त हो सकता है। जीव जब तक प्राकृतिक बन्धन में रहकर प्राकृतिक सुखों को ही सुख समझकर भोगता रहता है, उसकी हालत उसी प्रकार है जिस तरह कैद में बन्द कैदी की होती है। जिस प्रकार कैद में बन्द कैदी बाहर संसार के लोगों की तरह खाता, पीता, सोता सभी कुछ करता है, परन्तु उसे उन सब में आनन्द नहीं आता। क्योंकि वह स्वतंत्रता से सब कुछ नहीं करता है। इसी प्रकार प्रकृति की गोद में कैद हुए जीव की दशा है। परन्तु वह मोह के कारण ही यह सब कुछ करता है।

जीव को जिस समय कैद और स्वतन्त्रता के भेद का ज्ञान हो जाता है, तब वह 'प्रकृति-कैद' से मुक्त होने के लिए तड़फने लग जाता है। फिर वही जीव जिसे 'बोध' हो जाता है कि 'बन्धन' और 'मुक्ति' क्या है ? तब वह 'मुक्त' होने के साधन में जुट जाता है। प्राकृतिक बन्धन से मुक्त होने के लिए जीव को बुद्धि और विचार की शरण लेनी

पडती है। वही बुद्धि जो अब तक प्राकृतिक सुखो मे जुटी हुई थी। अब वहा से हटकर आत्म सुख की खोज मे जब जाती है, तो उसे ईश्वरीय शक्ति सहायता देने लग जाती है। जीव जब कुछ सुख आत्मीयता का प्राप्त करने लग जाता है, तब वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर उसे पूर्णरूप से प्राप्त करने मे ही अपना सुख समझता है। क्योकि जीव का जो सच्चा सुख और आनन्द है, वह आत्मबोध मे ही है। इसी क्रम से जीव जब अपनी शक्ति आत्मा को ढूढने मे लगा देता है, तब उसे एक दिन

जाता है। त्यों ही उसे पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

जीव में मिश्रण भाव होने के ही कारण से वह अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। परन्तु जिस तरह से वैज्ञानिक लोग पानी और चीनी के मिश्रण भाव में से वैज्ञानिक ढंग से पानी सुखाकर चीनी के असली स्वरूप को ढूंढ़ लेते हैं, उसी प्रकार से जीव भी जब अपनी बुद्धि द्वारा मिश्रण भाव से जब अपने को जुदा (पृथक) कर लेता है, तब वह 'जीव' जीव न रहकर आत्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जो कि उसका शुद्ध और सच्चा स्वरूप है।

'आत्म बोध' प्राप्ति के लिए की जाने वाली उपासना में मुख्यतः मन की शुद्धता की परम आवश्यकता पड़ती है। मन की शुद्धता शरीर और मन के द्वारा किए कर्मों और विचारों पर निर्भर होती है। जीव में दो शक्तियां काम करती हैं: एक 'प्राकृतिक' और दूसरी 'आत्मिक'। इन दो शक्तियों के कारण ही मन की भी दो धारणायें बन जाती हैं। इनमें प्राकृतिक धारणा जीव को

संसार की तरफ लगाती है और दूसरी आत्मिक धारणा, जीव को उसके परमपद की ओर ले जाती है। दोनों धारणाओं में प्राकृतिक असत्य और आत्मिक सत्य है। दोनों धारणाओं में अपनी-अपनी शक्ति अलग-अलग भाव वाला है। जब जीव प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह मुक्त कहलाता है। जीव अपने मन पर विजय, ज्ञान, और कर्म से प्राप्त कर सकता है। जिस समय जीव अपने विचार, कर्म और भावनाओं में शुद्धता ले आता है, त्यों ही मन की प्राकृतिक अशुद्ध धारणा विनाश हो जाती है।

मनुष्य दो शक्तियों का उपासक रहा है। एक 'प्रकृति' का दूसरा 'आत्मा' का। प्रकृति-उपासक को प्राकृतिक सुख-साधन मिलते रहे जो कि क्षणिक अवधि वाले होने के नाते समय पर बनते और बिगड़ते रहे। लेकिन आत्मा का उपासक अमर सुख, चिर आनन्द, परमानन्द को प्राप्त हो जाता है। प्रकृति-उपासक प्रकृति के परिवर्तन पर सुख-दुख का अनुभव करता है लेकिन आत्मा का उपासक 'आत्मबोध' प्राप्त होते ही क्षणिक सुख-

त्याग। त्याग ही तेरे जीवन का महान सुख है। त्याग से ही तू प्राकृतिक दुःखों से मुक्त हो सकेगा। सोच क्या रहा है ? उपासना तेरे जीवन का भूषण है, उसे धारण कर। उपासना से तू 'उपासित' बन जायेगा। मानव-धर्म के नियमों का पालन कर। इनको अपने जीवन में उपासना के रूप में धारण कर ले।

मानव जीवन के अमूल्य धन को इन क्षणिक सुखों में मत व्यय कर। इस धन के द्वारा जीवन-रत्न (मणि) को प्राप्त कर। महापुरुषों के द्वारा अपनाये सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, सम, सन्तोष और विचार को उपासना के रूप में अपने जीवन में उतार ले। यही तेरे सच्चे माता-पिता और सखा हैं। इनसे ही तेरे जीवन का सुख-शृंगार बनेगा। इन सुन्दर गुणों से ही अनेकों महान गति को प्राप्त कर चुके हैं। ये तेरे जीवन के सुन्दर फूल हैं। इन्हें माला के रूप में पिरोकर अपने गले का हार बना ले। इस माला को धारण करने से संसार तेरा स्वागत करेगा। असम्भव को भी सम्भव बनाने वाले इन 'हीरों' का संग्रह कर। इसी धन-प्राप्ति

के लिए तुझे यह मानव शरीर मिला है। यह 'महामणि' तुझे लौकिक सुख के साथ-साथ अलौकिक आनन्द भी दिलायेगी। यह मणियों के समान उज्वल गुण तुझे वेद-शास्त्रों का भी अनुभवी वना देगे। इससे ही तू मन के महान 'निर्मलता' रूपी प्रकाश को प्राप्त होगा। सच समझ! यही सुन्दर मित्र तुझे देश-विदेशों, घर-वाहर, जीवन-मरण, मे सुख पहुंचायेंगे और तेरी रक्षा के साथ-साथ तुझे सम्मानित भी करायेंगे। यही है वह सुन्दर रत्न रूपी महान गुणकारी 'गुण' जिन्हें राम ने, कृष्ण ने, ईसा-मूसा और मुहम्मद ने धारण कर संसार में अपने को भगवान का दूत (पैगम्वर) होने की पदवी पाई थी। इन सुन्दर गुणों को अपनी दिनचर्य्या से लेकर लोकव्यवहार तक मे अपना ले। इन हीरों से तुझ में वह अनुपम शक्ति आजायेगी कि तेरा जीवन सच्चे सुख की सेजों में ओतमोत हो जायेगा। यह उस परमानन्द के दाता हैं जो केवल पुरुषार्थी को ही प्राप्त होता है। इन महान् सुन्दर गुणों को धारण करने से तू स्वयं धर्म-स्वरूप बन जायेगा।

प्यारे मानव ! अपनी मानवी शक्ति को प्राप्त करने के लिए भोगों से मुख मोड़ और उपासना को धारण कर। जीवन के वास्तविक सुख को प्राप्त कर। कल का भरोसा छोड़। कल नाम काल का है। इसी कल पर तुझे विजय प्राप्त करना है। इस आने वाले काल का सामना करने के लिए सुन्दर गुण रूपी सेना से सुसज्जित हो जा। इन से ही तू कल पर विजय प्राप्त कर सकेगा। जिस कल ने तुझे जर्जर कर दिया है, उस पर पुरुषार्थ से विजय हो सकेगी। उठ खड़ा हो। 'ज्ञान' का खड्ग हाथ में लेकर 'विचार' की ढाल अपनी रक्षा के लिए बना ले। तेरा यह मानव शरीर एक क्षेत्र है। इसमें 'कर्म' की खेती होती है। जीव इसका किसान है। विचार इसका बीज है। भाग्य इसका फल है। अपने शरीर रूपी क्षेत्र में शुभ विचार से शुभ कर्मों से अच्छी खेती कर ले। शुभ कर्मों का जो फल होगा वह तेरे जीवन का सुख बनेगा। बाहर के आडम्बर को छोड़ कर अन्दर को सजा ले। अन्दर की पवित्रता से सर्वत्र पवित्रता छा जायेगी। मन के मैल को धो डाल। इसी मन-मैल के कारण तू अपने

स्वरूप का बोध नही कर पा रहा है। मन की निर्मलता से ही तुझे अनोखी निधि प्राप्त होगी। जानता है प्यारे! तेरे मन पर मैल किस कारण से लगा है। तेरे परम वैरी स्वार्थ, लोभ, मोह, क्रोध और अहकार ने तेरे मन पर और उसकी निर्मलता पर पर्दा डाल दिया है। इसमे मुख्य कारण मन को मैला बनाने का स्वार्थ का है। भाई! स्वार्थ को तू अपना मित्र समझ रहा है, पर सच जानना, यही तेरी गिरावट का मूल कारण हे। इस स्वार्थ के कारण ही तू लोभी, क्रोधी, द्वेषी, अहकारी और कामी बन गया है। और तो क्या कहू, इस स्वार्थ के कारण ही तू जन्म-मरण की गति को जीवित मे ही प्राप्त हो जाता है। स्वार्थ से ही तेरा 'जीवन-सुख-स्वप्न' दु ख मे बदल जाता है। स्वार्थ के कारण ही शान्ति की देवी तुझ से रूठ गई हे। स्वार्थ के कारण ही तूं लोगो का अप्रिय और वैरी बन गया हे। तेरे अपने स्वार्थ के कारण ही सब मित्र तुझ से दूर हट गये है। तेरे स्वार्थ के कारण ही तेरा मन दु ख, चिन्ता, ग्लानि और अशान्ति मे है। इसका त्याग कर और तू जीवन के सुख को अवश्य प्राप्त हो जा।

प्रिय मित्र मानव ! यहां किसके कारण तू ने इस महान अनर्थकारी स्वार्थ को अपना रखा है ? इस शरीर के लिए, मित्र-परिवार के लिए? न भाई ! इनमें से तेरा अपना है ही कोई नहीं। यह शरीर भी एक दिन तेरा साथ छोड़ जायेगा। यह संसार और इसके परिवार, भाई ये भी तेरी तरह स्वार्थी हैं। ये सब अपना स्वार्थ पूरा करते ही तुझे त्याग देंगे। फिर ऐसों को तू पहले से ही क्यों नहीं त्याग देता। यहां तो सब तेरी ही तरह 'आशा' में बंधे हुए जीवन की महामणि को खो रहे हैं। भाई ! इनका साथ छोड़ और अपने मानव जीवन को पवित्र करने के लिए पुरुषार्थ कर। इस शरीर का भी तुझ पर ऋण है। इसके ऋण से भी उऋण होने के लिए कुछ यत्न कर।

प्यारे मानव ! विचार कर और अपनी मानवी शक्ति का संग्रह करके इसे उस सत्य वस्तु की उपासना में लगा, जिससे तेरा मानव जीवन सफल हो जाये। यह जीवन की यात्रा है। इस यात्राकाल में संसार से मोह न कर ; निस्वार्थ भाव से प्यार कर। इस यात्रा-काल में, इस विदेश में किसी में भी अपना

अपनत्व न समझ। वल्कि इनसे अपना कार्य वना और इस जीवन-यात्रा को सफल वना। इन प्राकृतिक वन्धनों से अपनी रक्षा करता हुआ, इस विदेश से निर्दोप-पूर्वक चला जा। इसीसे तेरी यात्रा सफल हो सकेगी। जानता है, यहां जो तुझे दुःख सुख मिल रहे हैं, इसमें भी कारण तेरे अपने अनर्थकारी विचार और कर्मों का है। किसी को दोप न लगा। तेरे अपने व्यवहार व वर्ताव के कारण ही यहां तेरा कोई मित्र और कोई शत्रु वना हुआ है। इसमें तेरी अपनी दृष्टि और विचारों की कमजोरी है। तेरी अपनी शक्ति इतनी महान् थी, पर खेद है कि तूने उसका उपयोग न करके दुरुपयोग किया है। परन्तु भाई! घवरा नही अव भी समय है। जीवन का एक दिन भी कीमती है। अव भी समझ जा और अपने पूर्व किए कृत्य पर पश्चाताप कर और आने वाले भविष्य को सुधारने में व्यस्त हो जा। ज्ञान की एक ही चिन्गारी तेरे द्वारा किये अनर्थकारी कर्म-फलों को जला कर खाक कर सकती है। पर यह सव तव होगा, जव तू 'वोध' को प्राप्त कर अवोधता के मार्ग को त्याग देगा।

मेरे अपने प्रिय स्वरूप मानव ! संसार के मायावी बन्धन से मुक्त होने के लिए ही तुझे यह महान साधन-सम्पन्न मानव शरीर मिला हुआ है। परन्तु तू यहां मायावी क्षणिक प्रपंच रूपी सुखों में अपने को भ्रमित कर अपने ध्येय को भूल गया है। तू अपने जीवन-मार्ग में ही रुक गया है। तेरी मंजिल दूर है। अभी से अगर तू यहां पर मोह-निद्रा में सो गया तो तुझे तेरा 'सुख-केन्द्र' कैसे प्राप्त हो सकेगा। इन क्षणिक भोगों को जिन्होंने तुझे अपना दास बनाकर रोगी बना दिया है, त्याग क्यों नहीं देता ? इस संसार के ये भोग तो पुरातन से ज्यों के त्यों पहले के समान अब तक 'नवीनतम' ही बने हुए चले आ रहे हैं। हां, इनको भोगने की आशा लगाने वाला अपने को भुक्ता चुका है। ये भोग किसके हैं ? प्यारे यह तो तुझे भ्रमित कर रहे हैं। इनमें सुख कहां ? ये तो दुःख के ढेर हैं। इन भोगों के अन्दर 'मृत्यु के शोले' भरे हुए हैं। इनसे मत खेल। इनसे खेलने वाले का चिह्न तक यहां न रहा। अनेकों ने इन्हें प्राप्त करना चाहा था पर खुद को मिटाकर चले गये। मानव ! तू इस रहस्य

को क्यो नही समझता कि यह सब मदारी के खेल की भाति 'फलहीन' सब शून्य हैं। इन भोगो मे तू सच्चा सुख ढूढ कर अपने को धोखा दे रहा है। तेरी तरह यहा अनेको आये, 'आश लगायें' वेआश चले गये। तू भी औरो की तरह व्यर्थ अपने अमूल्य समय को इन व्यर्थ के 'परिणाम हीन' भोगो मे क्यो व्यतीत करता है ? इस ससार-जाल को समझने का प्रयत्न कर, इस रहस्य को समझते ही तू इसके सब गुप्त रहस्यो को जान जायेगा। इस रहस्य को समझते ही तू स्वय अपने पर पश्चाताप करने लगेगा। औरो की तरह जो इस गुप्त रहस्य का रहस्योद्घाटन कर गये हैं।

प्यारे दिलदार ! अभिमान ही तेरा परम शत्रु है। अभिमान करके तू अपनी अज्ञानता का 'प्रमाण' (सबूत) दे रहा है। भला सोच तो सही, तू अभिमान किस पर कर रहा है ? यहा की सब निधि दूसरे की है अर्थात् प्रकृति की है। हो सकता है तुझे अभिमान धन, यौवन पर होगा। पर यह भी भूल है तेरी, जानता है जिस पर तू फूला नही समाता, उस शरीर का वास्तविक स्वरूप वृद्धावस्था है।

प्यारे मानव ! -मानवता के हितो की रक्षा करना ही तेरा 'कर्तव्य' है। मानव धर्म के नियमो का पालन करना ही तेरा 'धर्म' है। मानवता के मार्ग पर चलना ही तेरे जीवन की सच्ची 'उपासना' है। सत्य-पथ पर चलना ही तेरा 'ध्येय' है। सत्य को प्राप्त करके रहूंगा, यही तेरी 'धारणा' है। इसे अपना और कर्तव्य-रथ पर सवार हो जा। किसी के आश्रय की आश त्याग और स्वय पुरुपार्थ के द्वारा अपने ध्येय को प्राप्त कर। इस मार्ग पर चलने से तेरी चिन्ताएं शान्ती मे वदल जायेगी।

मानव ! जीवन का सच्चा आनन्द या है, यह तुझे तव पता लगेगा जव 'मानवधर्म' रूपी गगा मे स्नान करेगा। 'मानवधर्म' गगा तेरे जीवन के सव दाग धो डालेगी। इस पवित्र धारा मे स्नान करते ही तेरा मन शान्ति को प्राप्त हो जायेगा। 'मानवधर्म' वह कल्प वृक्ष है जिसके नीचे वैठकर मानव अपने जीवन के सभी मनोरथो को पूर्ण कर लेता है।

पारस पत्थर लोहे को सोना तक ही वना सकता है लेकिन मानव-धर्म वह मणि है जो मनप्य

यौवन का रूप जर्जर है। जीवन का स्वरूप मृत्यु और बहारों का वास्तविक स्वरूप पतझड़ है। यह है तेरे अभिमान की वस्तुएं जो कि सभी दुःख रूप हैं। अब सोच, किसके आधार पर तू इठलाता है? यहां का मेला आने-जाने का है। यहां सब कुछ बदलता रहता है। यह संसार तो नित नवीनता में ही रहता है। तू ही इनको भोगने की आशा से 'नवीन' न रह पायेगा। प्यारे! अभिमान का त्याग कर, स्वार्थ को छोड़ दे और पुरुषार्थ से इन सब पर विजय प्राप्त कर।

तेरा सुख दूसरों को मिटाने में नहीं बल्कि बनाने में है। तेरा जीवन दूसरों को जीवित रखने में है। तेरा सम्मान दूसरों को सम्मानित करने में है। इसे मत भूल। यह तेरे चिर सुख की कुंजी है। इस कुंजी से तू अपने सुख-भण्डार का ताला खोल और देख कि बाहर कुछ नहीं, सब कुछ तेरे अन्दर है। जो कि अब तक तेरे ध्यान से दूर था। हिरन (मृग) की तरह नाभि में कस्तूरी छिपाकर, बाहर जंगलों में मारा-मारा भटकता है। कस्तूरी की सुगन्ध के लिए।

प्यारे मानव ! मानवता के हितों की रक्षा करना ही तेरा 'कर्तव्य' है। मानव धर्म के नियमो का पालन करना ही तेरा 'धर्म' है। मानवता के मार्ग पर चलना ही तेरे जीवन की सच्ची 'उपासना' है। सत्य-पथ पर चलना ही तेरा 'ध्येय' है। सत्य को प्राप्त करके रहूंगा, यही तेरी 'धारणा' है। इसे अपना और कर्तव्य-रथ पर सवार हो जा। किसी के आश्रय की आश त्याग और स्वयं पुरुषार्थ के द्वारा अपने ध्येय को प्राप्त कर। इस मार्ग पर चलने से तेरी चिन्ताएं शान्ती मे बदल जायेगी।

मानव ! जीवन का सच्चा आनन्द क्या है, यह तुझे तब पता लगेगा जब 'मानवधर्म' रूपी गंगा में स्नान करेगा। 'मानवधर्म' गंगा तेरे जीवन के सब दाग धो डालेगी। इस पवित्र धारा में स्नान करते ही तेरा मन शान्ति को प्राप्त हो जायेगा। 'मानवधर्म' वह कल्प वृक्ष है जिसके नीचे बैठकर मानव अपने जीवन के सभी मनोरथों को पूर्ण कर लेता है।

पारस पत्थर लोहे को सोना तक ही बना सकता है लेकिन मानव-धर्म वह मणि है जो मनुष्य

को मणि ही बना देती है।

प्यारें मानव जाति के लोगो ! जातीयता के मत-भेद को भी छोड़ दीजियेगा। जाति हमारी मानव है, जोकि शारीरिक दृष्टि से है। परन्तु वास्तविक हमारा स्वरूप और जाति तो आत्मिक है। जो कि समस्त मानव जाति के ही लिए नहीं बल्कि संसार के समस्त प्राणियों के लिए एक है। हमारे धर्म अनेक नहीं हैं, बल्कि सब का एक ही धर्म है, वह है 'मानवधर्म'। हमने अनेक मतमाने धर्मों का जो उल्लेख किया है, उन सब का मत एक हो है। हमारी शक्ति अनेक शक्तियों में बंटने से खोखली होती जा रही है। 'प्यारे मानव' ! आओ हम सब मिलकर 'मानव-धर्म' रूपी कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त करें। हमारा धर्म-मन्दिर 'मानवधर्म मन्दिर' के नाम से होना चाहिए ताकि हम समस्त विचार वाले एक ही स्थान पर बैठ कर गले मिल सकें मानव-धर्म के आधार पर चलने से ही हमारे बीच की जो खाइयां सदियों से हमें विलग किये हुए हैं आपस में मिला सकेंगे। 'मानव-धर्म' सबके लि

हितकर है। इससे हमे नवजीवन और जीवन का सच्चा आनन्द मिलेगा। मानव-धर्म के आधार पर चलने से हमारा 'गृहस्थ' सुखी हो जायेगा। हमारे परिवार के सभी लोग इसके आधार पर चलने से अपने अन्दर की त्रुटियो को दूर करने मे समर्थ हो सकेंगे। मानव-जीवन का ध्येय क्या है? मानव-जीवन का सुख क्या है? मानवता प्राप्त होते ही मानव को परम सुख का अनुभव किस प्रकार का होगा? यह सब आप 'मानव-धर्म' के द्वारा समझ सकोगे।

ध्यान दो

प्रिय मानव! इस सृष्टि की रचना प्रकृति और प्रकृति पुरुष 'आत्मा' के ससर्ग से हुई है। प्रकृति और प्रकृति पुरुष दोनों अनादि हैं। दोनो ही (अमर) अनाशवान। अन्तर यदि इन दोनो में है तो केवल इतना ही कि आत्मा सदैव एक स्वरूप से स्थित और व्याप्त है, और प्रकृति के द्वारा सभी रचित वस्तुएं परिवर्तनशील हैं। 'आत्मा' निर्विकल्प, निर्विकार, संकल्प-विकल्प रहित, असंग, निर्दोष, निराकार, सर्वशक्तिमान है और

अनुभव से भापित होनें योग्य है । 'प्रकृति' मायावी, सर्वगुणयुक्त, वार-वार स्वरूपों को धारण करती हुई कभी वनती और कभी विगड़ती रहती है । परन्तु अस्तित्व प्रकृति का भी समूल कभी नाश नहीं होता । आत्मा की तरह यह भी अपने प्रकृति पुरुष में लीन होकर अमर रहती है । इसका वनना, विगड़ना, परिवर्तन होना यह सब उसका वाहिक संकल्पित स्वरूप है, जो संकल्प द्वारा वनता विगड़ता रहता है । अकेले दोनों ही भापित होने योग्य नहीं हैं । विशेप अन्तर इनमें यह भी है कि आत्मा सर्व-शक्तिमान, प्रकाशयुक्त है । प्रकृति 'आत्मा' के द्वारा प्रकाशित और शक्तियुक्त है । लेकिन वह यह समझने के योग्य नहीं है कि प्रकृति नाशवान है । प्रकृति नाशवान स्वयं नहीं है वल्कि प्राकृतिक संकल्पों द्वारा रचित उसकी रचनायें नाशवान हैं । अर्थात रचना के स्वरूप का नाश है न कि प्रकृति का । प्रकृति और प्रकृति पुरुष दोनों का सदैव ही संग रहा है । प्रकृति आत्मा में स्थित है और आत्मा प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति के द्वारा कर्म कराती है । कर्म शरीर करता है और कर्म करने की शक्ति

'आत्मा' 'पावर' से मिलती है। बीज का कभी भी नाश नहीं होता जिस प्रकार बीज के अन्दर स्वरूप का निवास है और स्वरूप के अन्दर बीज का। उदाहरणार्थ जिस प्रकार वृक्ष का स्वरुप उसके बीज में स्थित है और वृक्ष में बीज स्थित है। नाश दोनों का ही नहीं है। केवल अन्तर इतना ही है कि वृक्ष रूप स्वरूप का नाश समय आने पर हो जाता है परन्तु बीज का कभी भी नाश नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृति-बीज का कभी भी नाश नहीं होता। नाश केवल उसके द्वारा रचित साकार स्वरूपों का होता है। आत्मा के बिना शरीर और शरीर के बिना आत्मा का कोई भी कार्य या आभास नहीं होता। संकल्प, विकल्प, मनन, चिन्तन, विचार, यह न आत्मा करती है न शरीर। बल्कि यह सब जीव करता है। जीव ही संकल्प की रचना, बनाना, बिगाड़ना, विचारना करता रहता है। जीव के विषय में पहले भी वर्णन कर चुका हूं कि आत्मा पुरुष और प्रकृति संसर्ग (योग) से ही जीव की उत्पत्ति होती है। जीव ही दुःख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, गुण-अवगुण, पाप-पुण्य ऊंच-नीच का

विचार करता है। अकेले आत्मा व अकेले शरीर में यह सब गुण-दोष नहीं हैं। 'आत्मा' की तरह प्रकृति की भी अपनी शक्ति है। केवल अन्तर इतना है कि प्राकृतिक शक्ति गुणयुक्त, दोष और विकार-युक्त है। आत्मा निर्दोष, निर्विकार, अपरिवर्तन-शील शक्ति वाली है। जीव को जब दोनों शक्तियों का संयोग मिलता है, तब उसका जन्म होता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब दोनों अनादि, अनाशवान हैं, तो फिर दोनों में अन्तर क्या? अगर दोनों में अन्तर नहीं है तो फिर जीव को एक से लाभ और दूसरे से हानि क्यों? यह तो सत्य है कि दोनों नाश-रहित, अनादि हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि एक निर्गुण, अपरिवर्तन-शील, आनन्द स्वरूप है। दूसरा यानी प्रकृति सगुण, सकल, और परिवर्तनशील है। अब प्रश्न यह रहा कि जीव को एक से लाभ व दूसरे से हानि क्यों? जीव जब प्राकृतिक रचनाओं में जो परिवर्तनशील हैं, अपना चित लगाता है, तब वह उस रचना में से उस समय तक सुख लेता रहता है, जब तक कि रचना परिवर्तित नहीं हो जाती।

उस समय जब जीव की वह इच्छा जो प्राकृतिक रचनाओ के सुख मे चिर सुख की आश लगाकर, उसे प्राप्त करने मे जो अपना समय लगाता है। उसके लिए जीव को परिवर्तनता के समय दु ख उठाना पडता है। क्योकि वह स्वरूप जिसमे जीव सुख की आशा लगाकर आनन्द लेता रहता है, वह स्वरूप जब नही रहता या नष्ट हो जाता है, तब उसे निराशा, दु ख और चिन्ता मे व्याप्त होना पडता है। परन्तु यह सब आत्मा मे चित्त लगाने से जीव को अनुभव नही करना पडता। क्योकि 'आत्मा' सभी परिस्थितियो मे सम, सुख स्वरूप, परम स्वरुप, परमानन्द रूप है। ऐसे स्वरूप मे चित रखने से जीव को दु ख-सुखो का अनुभव नही करना पडता। बल्कि जिस तरह प्राकृतिक रचनाओ मे चित लगाने से जीव को प्राकृतिक भावो मे से उसी के स्वरूप के अनुसार दु ख मिलता है, उसी तरह आत्मा मे चित लगाने से जीव को, आत्मा के भाव के अनुसार स्वरूप प्राप्त होते ही, आत्मा के सदृश स्वय भी सुख रुप, परम आनन्द स्वरुप, और सर्वशक्तिमान बनने का सौभाग्य मिल

जाता है। प्राकृतिक रचनाओं में चित लगाने वाले जीव को प्रकृति के स्वभाव के अनुसार दिन-रात व मौसम की तरह परिवर्तनशील दुःख-सुख का अनुभव करना पड़ता है। लेकिन आत्मा का भाव सदैव समान है। उस समान भाव वाली शक्तिमान आत्मा में चित लगाने वाले जीव को भी समान भाव से, एक रस, एक धार से परम सुख, परम आनन्द की धाराओं में सानन्द प्रवाहित होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। प्राकृतिक सुख अवधि-युक्त हैं, और 'आत्मा' का आनन्द 'चिर आनन्द' है। इसी कारण से जीव को दोनों से अन्तरयुक्त लाभ और हानि है। जीव की खोज हमेशा सुख और शान्ति की रही है। इसी सुख की तलाश में वह शरीर वामन से कृत्य करता रहता है। लेकिन उसकी यह इच्छा शरीर धाराओं में लिप्त होने के कारण या कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले सुखों के द्वारा पूर्ण नहीं होती। क्योंकि शरीर और उस पर लगी कर्मेन्द्रियां सभी अवधि पाकर नाश हो जाती हैं, तथा इनके द्वारा प्राप्त होने वाले सुख भी इन्हीं के साथ समाप्त हो जाते हैं। किन्तु यह सब

आत्म-चिन्तन में लगे जीव को प्राप्त नही होता, क्योकि 'आत्मा' स्वरूप को नही बदलती और न आत्म-आनन्द ही नाश होते हैं। इसलिए आत्म-सुख ही सर्वत्र, सर्वदा 'आनन्दमय' है। आत्मा स्वयं सुख-स्वरूप है। इसलिए आत्म 'सग' से चित भी स्वयं 'आत्म स्वरूप' को प्राप्त कर स्वय सुख रूप वन जाता है। आत्मा प्रकृति की तरह मायावी नही है। जो बनता-बिगडता नही, जो बिना स्वरूप के भी पूर्ण शक्तिमान है। जो बिना किसी सहारे के भी आनन्द स्वरूप है। वह आत्म चिन्तन व ध्यान ही जीव के लिए श्रेयस्कर है। आत्मा के चिन्तन से प्राप्त सुख परिवर्तनशील, दु ख रूप व अशान्ति का देने वाला नहीं है। ऐसे सुख को प्राप्त प्राणी प्राकृतिक प्रपंचो से मुक्त होकर सर्वदा सुख रूप में ही रमण करने लग जाता है। यही नही वल्कि प्राकृतिक बन्धनो से मुक्त जीव 'जीव' न रह कर आत्म स्वरूप ही वन जाता है। क्योकि जीव की गति प्राकृतिक स्वभाव के ही कारण बदलती रहती है। लेकिन जैसे ही जीव प्रयत्न करता हुआ, 'आत्म गति' को प्राप्त हो जाता है, तब वह सर्वदा 'आत्म

स्वरूप' को प्राप्त होकर संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है।

यह सब वह महापुरुष ही समझ पायेगा जो जिज्ञासु है। जो इच्छुक प्रयत्नशील होकर इस सुख को प्राप्त करने में पुरुषार्थी बन गया है। यह भाषा वह क्या समझ पायेगा जो अभी प्रकृति विकारों में ही बंधा हुआ है। यह सब वह समझ पायेगा जिसे 'आत्म भाव' प्राप्त हो चुका है। जब प्राणी 'क्षणिक सुखों' से 'परम सुख' में परिणत हो जाता है, तब क्षणिक सुख व उसकी प्राप्ति के सभी साधन अपने आप व्यक्त हो जाते हैं। यह भाव कि परम सुख क्या है। उसका आनन्द क्या है। तब वह स्वयं ही उस ओर आकर्षित होने लगता है, जहां वह सुख-पुंज है। 'आत्म सुख' का थोड़ा-सा भी अनुभव होते ही प्राणी धीरे-धीरे उस ओर अग्रसर होकर एक दिन 'पूर्ण रूपेण' उस परम सुख को प्राप्त हो जाता है।

परम सुख रूप आत्मा पर 'ध्यान' देने से प्राणी धीरे-धीरे जीव गति से मुक्त होता हुआ, 'आत्मिक सुख' में लीन होता हुआ, शरीर व इन्द्रिय सुख-दुःखों

से मुक्त होता हुआ, आत्मा में ही रमण करने वाला बन जाता है। आत्मा में रमण करने वाला 'चित' फिर विकारों से स्वयं पवित्र होकर आत्मा की निर्मलता को प्राप्त कर, स्वयं स्वरूप को मिटाकर आत्म रूप में ही विलीन हो जाता है। तब ऐसे चित से अशान्ति, दु:ख, ग्लानि, चिन्ता सब दूर हो जाते हैं। क्योंकि 'चित्त' की अशान्ति का कारण जो संसार व सांसारिक दु:ख-सुख है, वे जब उसके चित में नहीं रहते, तब ऐसा चित स्वयं ही पवित्र हो जाता है। ध्यान देने योग्य अगर कोई सुख है तो वह केवल आत्म-सुख ही है। क्योंकि आत्मा का नित ध्यान धरने वाले को आत्म-प्रकाश जब धीरे-धीरे मिलने लग जाता है, तब अन्धकार जो दु:ख कारक है, वह भी धीरे-धीरे समाप्त होने लग जाता है। अन्धकार (अज्ञान) का नाश होते ही जीव को 'प्रकाश स्वरूप बोध' होते ही 'सत्य-असत्य' का भाप होने लगता है। सत्य-असत्य का 'बोध' होते ही असत्य जो दु:ख है, वह दूर हो जाता है। प्रकाश स्वरूप जो बोध है, वह जीव को परम सुख, परम शान्ति की ओर ले जाकर, उसे दु:खों से मुक्त करा

देता है। जीव को जब यह भास होने लग जाय कि यह असत्य है, क्षणिक है, नाशवान है, इसमें सुख कहां? यह सुख तो दु:ख का कारण है। तब भला कौन ऐसा होगा जो बार-बार दु:ख उठाने पर भी फिर उस ओर जायेगा। तब तो वह सत्य-सुख, परम सुख, आनन्द सुख को ही ढूंढ़ने में लग जायेगा। ज्ञान 'बोध' ही संसार में प्रकाश और अबोध 'अज्ञान' ही संसार में अन्धकार है। अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने को ही 'बोध प्राप्ति' कहते हैं। किसी वस्तु के सत्य-स्वरूप को जानना ही बोध कहलाता है।

मनुष्य अगर यह जान जाए कि मैं जिसको 'मैं' कह रहा हूं, वह मैं 'मैं' नहीं हूं। बल्कि वास्तविक में मैं जिसको मैं कह रहा हूँ, वह मैं शरीर है। मेरा वास्तविक स्वरूप यह 'मैं' नहीं है। बल्कि 'मैं' इस 'मैं' से परे निवास करने वाली आत्मा हूं। इस 'मैं' के ही कारण 'मैं' अब तक बनता और मिटता रहा हूं। 'मैं' मिटते ही जब 'तू' ही 'तू' हो गया तब परम सुख का अधिकारी बनता है। जब जीव को यह ज्ञान हो जाए कि 'मैं' मैं नहीं हूँ बल्कि इस

'मैं' को जो शक्ति प्रदान करने वाला तत्व है वह मेरा स्वरूप है।

प्यारे मानव ! इस 'मैं' को मिटा दे और जो बाकी रहे वही तेरा वास्तविक स्वरूप है। इस 'मैं' के पर्दे की ओट में ही तेरा वास्तविक सुख छिपा हुआ है। प्रयत्न द्वारा इस 'मैं' के पर्दे को चीर कर फाड दे। फिर 'सर्वत्र' में 'तू ही तू' नजर आने लग जायेगा। तब तू 'स्थूल' न रहकर 'सूक्ष्म' गति से सर्वत्र में व्यापक और भ्रमण करने वाला बन जायेगा। तब तुझे अज्ञान-दृष्टि से 'दिव्यदृष्टि' की प्राप्ति हो जायेगी। तब तू सर्व शरीरों में व्याप्त अपने ही स्वरूप को देखने लगेगा। तब समता रूपी चक्षु से तू सर्वत्र आनन्द स्वरूप बनकर संसार का आनन्द लेने वाला बन जायेगा। जब तेरा 'मैं' अभिमान मिट जायेगा, उस वक्त तेरी जो अब तक शक्ति थी, वह सर्वव्यापक और सर्व शक्तिवान के रूप में बदल जायेगी। तब तू इस शरीर में एक स्थान पर होता हुआ भी सर्व शरीरो में व्यापक होने वाला बन जायेगा, तब तू सब शरीरों और शरीरों में निवास करने वाले 'आत्मा' के हर भाव

को जानने वाला बन जायेगा। तब तेरी शक्ति क्षण भंगुर न रह कर शाश्वत बन जायेगी। तब तू सर्व दृष्टि वाला बन कर दूरदर्शी भी बन जायेगा। त्रिकाल के ज्ञान के साथ-साथ त्रिगुणों पर भी तेरी ही विजय की पताका फहराने लगेगी। तब 'तू' भी न रह कर सर्वत्र प्रकाशवान बन जायेगा। प्यारे मानव! तब तू 'भोगी' न रह कर 'योगी' बन जायेगा। योगी बन कर सर्व भोग तेरे अधीन हो जायेंगे। तब तू दीन, हीन न रहकर सर्वभोक्ता होकर भी अभोक्ता ही बना रहेगा। ये प्रकृति के प्रपंच जो अब तक तुझे बंधन में डाले हुए हैं, ये सब तेरे बंधन में हो जायेंगे। इन पर तेरा अधिपत्य हो जायेगा। तब तू 'योगारूढ़' होकर 'प्रकृति-पुरुष' के रूप में इस प्रकृति और इसके सुख-दुख का 'पति' बन कर इसका आनन्द भी तुझे मिलने लग जायेगा। फिर दुःख भी सुख और चिन्ता भी शान्ति में बदल जायेगी। मेरे मानव! यह है 'आत्म-बोध' गति प्राप्त के 'आनद' का आनन्द।

निर्मल मन इन्द्रियों वाला मानव ही इस आत्म-आनन्द का आनन्द लेता है। यह आनन्द केवल

पुस्तकों में पढने से ही नही मिलता। शर्वत का आनन्द पीने के वाद ही आता है। इसी प्रकार से आत्मानन्द का परमानन्द क्रियात्मक द्वारा व्यक्त करते हुए या व्यवहार द्वारा पवित्रता प्राप्त करने के वाद मन की निर्मलता से प्राप्त होता है। निर्मल मन और इन्द्रियों द्वारा किया कर्मफल मानव के लिए सुखकर वन जाता है। निर्मल-मन पुरुष केवल अपने ही लिए नही वल्कि जगत के लिएं सुख का साधन वन जाता है।

भगवान का घर

भगवान का घर किसी मूर्ति या पूजा के स्थान या मन्दिरों, मस्जिदो, व गिरजा घरो में ही नही है। यह स्थान तो मानव के उपासना-गृह में है। भगवान तो आत्मरूप होकर शरीर रूपी मन्दिरों में निवास करता है। शरीरो में निवास करने वाले भगवान आत्मदेव की उपासना ही मानव को मुक्तिदायक है। वाहर के वजाय अगर हम शरीर रूपी मन्दिर मे वैठकर उसकी तलाश करें तो वास्तविक स्वरूप का पता लग जायगा। मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर या पूजा स्थान तो हमारे विचार का स्थान है। इन

स्थानों पर बैठ कर हम विचार-विमर्श कर सकते हैं। पर वास्तविक पता तो भगवत् स्वरूप का शरीर रूपी मन्दिरों में बैठकर ही लगेगा। शरीरों की सेवा और आत्माओं का सत्कार ही भगवान का सही पूजन है। शरीरों में निवास करने वाले आत्मा के प्रति किया स्नेह, सम्मान, समानता का भाव नम्रता व विचारपूर्वक किया सुन्दर व्यवहार ही भगवत् प्राप्ति का मार्ग है। केवल पूजन-गृह, मन्दिर व अन्य देवालयों में रखी मूर्ति के पूजन से ही हमारा लक्ष्य 'ध्येय' हमें प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग देवालयों में रखी मूर्तियों के पूजन को ही भगवान के पूजन का साधन समझते हैं, वह उनकी कुछ भूल है। इन स्थानों पर तो हमें विधि सिखलाई जाती है। परन्तु उस विधि का प्रयोग तो संसार के शरीरों में निवास करने वाले आत्मा के प्रति ही व्यक्त करके उसका पूजन माना जाता है। जिस प्रकार बालक को पाठशालाओं में विद्या पढ़ाई जाती है। विद्यालयों से दीक्षा पूर्ण करके ही उनका ध्येय पूर्ण नहीं हो जाता। बल्कि पढ़ी हुई विद्या का प्रयोग जीवन भर संसार में करना पड़ता है। तब

पढी विद्या का लाभ विद्यार्थी को मिलता है। इसी प्रकार देवालयो व सत्सगालयो से प्राप्त विद्या के द्वारा, व ज्ञान के द्वारा हमे तब तक अपने ध्येय की प्राप्ति नही हो जाती, जब तक हम उस सुने हुए या पढ़े हुए ज्ञान को क्रियात्मक या चरितात्मक रूप से धारण नही करते।

भगवान विश्व-व्यापक, उर अन्तर से अनुभव मे आने वाले, प्रकृतिपुरुप 'आत्मा' को जो शरीर मे नही जानते, वे वास्तव मे अभी उस परम ज्योति को भूले हुए हैं। जो लोग भगवान को अपने घरो, मन्दिरो व देवालयो मे ही पूजित समझते है, ऐसे ही लोगो के द्वारा भगवान का अधिक अपमान, अनादर, असत्कार, अपूजन होता है। क्योकि वे लोग भगवान को अपने पूज्य स्थान या देवालयो मे ही सकुचित समझते है। बाहर ससार-व्यवहार मे, जो उनका व्यवहार जीवो के प्रति होता है, वह भगवान के प्रति अपमानजनक, गनादरपूर्ण, स्वार्थपूर्ण, द्वेपपूर्ण, दोपयुक्त, निर्दयतापूर्ण होता है। वे यह नही जानते कि यह व्यवहार जो हम जीवो के साँथ कर रहे है, वह भगवान के ही प्रति हो रहा है।

अगर यह सत्य है कि ईश्वर सर्वव्यापक है तो इस नाते वह सब जीवों व शरीरों में भी हो सकता है। जीवों के प्रति हिंसा, अन्याय, दुःख, अशान्ति का व्यवहार हमारी अज्ञानता का आभास कराता है। जिज्ञासु महात्माजन व अनुभवी भक्तों ने जब भगवान की खोज की तो उन्होंने भगवान को प्रकृति की गोद में व्याप्त पाया अर्थात् शरीर रूपी मन्दिरों में मन-निर्मलता के बाद देखा। जीवों के अन्तःकरण में निवास करने वाले 'आत्मा' को ही महापुरुषों ने भगवान का स्वरूप बतलाया है। भगवत बोध तो कोई बिरला ही जन प्राप्त करते हैं। वही जो मायावी विकारों से निर्मलता प्राप्त कर चुके हैं। भगवान का व आत्मा का पूजन तो संसार के जीवों के साथ आत्मीय भाव से किया व्यवहार है। संसार के सभी प्रकार के दुःखों का सामना करता हुआ भी जो आत्मीयता नहीं त्यागता, जो सब जीवों के दुःख-सुख में शामिल है, जो अपने स्वार्थ का त्याग कर चुका है, जो अपना सुख दूसरों को सुख पहुंचाने में समझता है; वही भगवान का सच्चा भक्त और उपासक है।

जो पूजा या भजन व उपासना अपने ही कल्याण के लिए की जाती है, वह पूजा भी वास्तविक नहीं है। जो अपने लिए कुछ न चाहकर, संसार के जीवों को ही सुखी बनाने में अपने जीवन को व्यतीत कर रहा है, वही भगवान का सच्चा भक्त, उपासक और प्यारा है। एकान्त में बैठकर या किसी कमरे या मन्दिर, मस्जिद के कोने में बैठ कर किया जाने वाला भजन सरल है। सबसे कठिन उपासना तो उसकी है जो तन, मन, धन से लोक उपकार में लगा हुआ है। जो संसार की सब कठिनाइयों का सामना करता हुआ भी, अपने सुख की आशा त्याग कर परमसुख में लगा हुआ है। वही इस संसार का महान कर्मयोगी व भगवान का सच्चा भक्त है। जिसे अपने कल्याण तक की भी चाह नही है। जो सम्पूर्ण संसार का कल्याण चाहता है, वही इस संसार में सच्चा त्यागी है। जिस प्रकार ईश्वर संसार के सभी प्राणियों के लिए सुख साधन बनाता हुआ भी स्वयं कुछ नहीं चाहता। जिस प्रकार आत्मा शरीर व कर्मेन्द्रियों को शक्ति देकर भी उनसे कुछ नही चाहता। आप निर्लेप,

निसंग, निर्दोष है। इसी प्रकार संसार में जो प्राणी करेगा या चाहेगा, वही इस संसार में महान व पूजने के योग्य है।

कई लोग यह समझते हैं कि साधु या महात्मा किसी सम्प्रदाय या गुरु का शिष्य बनने से ही बनता है। सिर मुड़वा लेने से या मंत्र धारण करने से भी साधु या महात्मा नहीं बन सकता। साधु या महात्मा घर त्याग देने से या बच्चों को छोड़ देने से बनता हो, यह भी सत्य नहीं है। साधु या महात्मा कभी बनाया नहीं जाता। साधु या महात्मा किसी विशेष वेष-भूषा का नाम भी नहीं है। वह तो साधुता प्राप्त या महात्मभाव धारण करने से बनता है। साधु तो बड़े परिवार में निवास करने वाला भी बन सकता है। साधु नाम साधना के द्वारा पवित्र भाव का है। जिसने अपने शरीर से लेकर मन, वाणी तक से, प्रकृति से उत्पन्न होने वाले विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है तथा जिसका हर कार्य मन, कर्म, वचन से संसार हित में हो रहा है, वह है साधु-पुरुष। सन्त नाम शान्ति का है। जो तीनों गुणों के गुण से उद्वेग को प्राप्त नहीं

होता। मायावी विकारों में भी जो शान्त है। जो संसार में विचरण करता हुआ भी, प्राकृतिक विकारों के तूफानों में भी शान्त है। जो मन, कर्म, वचन, से निर्मल हो चुका है वह है 'सन्त'। जो संसार और शरीर विकारों से भी विकृत नही होता वह है सन्त। महात्मा वह है जो आत्मीयता के व्यवहार में आरुढ़ है और जीव गति से मुक्त है। जो आत्मीय भाव से संसार-जीवों में व्यवहार करने वाला बन चुका है। जो ससार स्थल (स्टेज) से ऊपर उठकर आत्मीयता में लीन है, वह है 'महात्मन्'। इस प्रकार के भाव वाले पुरुष जहां भी हैं, वे पूजनीय हैं।

जो साधु बनाया जाता है, वह साधु नहीं बल्कि जो साधुता में लीन है वह साधु सर्व माननीय है। आजकल देखने में आता है कि कई स्वार्थी गुरुओं ने धन के लालच या और अन्य स्वार्थ के कारण लोगों का मुंडन करा करके देश में नाम के साधुओं का रेला बना दिया है। प्रिय मानव! सतर्क होकर सन्त और साधुओं की पहचान कर उनकी सेवा से वास्तविक लाभ उठा। अभिमानी, अहंकारी, अपने सम्मान की इच्छा वाला चाहे कितना भी विद्वान

है, पर वह वास्तव में सन्त है ही नहीं। दूसरों के हित चिन्तन में लगा, दूसरों के दुःख में जो चिन्तित है, अपना कुछ न चाहकर जो दूसरों के लिए सब कुछ चाहता है वही साधु है। उसकी सेवा में लगाया धन या दिया दान सार्थक है। ऐसा महापुरुष आपके द्वारा पाये दान व धन से वह न जाने कितनों का उपकार करेगा। अनेकों की सेवा में लगा धन आपके जीवन को भी सार्थक बना देगा।

संशयात्मक बुद्धि से हानि

मनुष्य का हर कार्य बुद्धि-बल पर आश्रित है। बुद्धि के दो स्वरूप हैं। एक संशयात्मक और दूसरी निश्चयात्मक। संशयात्मक वह बुद्धि है जो आत्मा में संशय युक्त है। अर्थात् जिसे अपनी आत्मा पर विश्वास नहीं है। या वह बुद्धि जो प्राकृतिक विषयों में भ्रमण करने से 'आत्म-बोध' से दूर और प्राकृतिक गुण-अवगुणों से युक्त है। दूसरी है 'निश्चयात्मक' बुद्धि, जो आत्म बोध में युक्त है। जिसे आत्मा से भिन्न कुछ भी नजर नहीं आता। जो प्राकृतिक गुण-अवगुणों से मुक्त और आत्म-शक्ति से युक्त है। वह बुद्धि जो प्राकृतिक परिवर्तनशील व भ्रमजाल

से मुक्त होकर आत्मा में दृढ़निश्चय करके स्थित है। जो शरीर के दोषों से अन्दर-बाहर से पवित्र होकर आत्मा के 'सत्य स्वरूप' में स्थित है। वह बुद्धि जो सत्य-असत्य के विवेक से असत्य को त्याग कर सत्य में स्थित है, निश्चयात्मक कहलाती है।

संसार में जिनकी बुद्धि संशय युक्त है, वे अपना ध्येय प्राप्त करने मे असफल हो जाते हे। संशय मनुष्य को भ्रम में डाल देता है। और भ्रम-युक्त बुद्धि मनुष्य को उसके मार्ग से विचलित कर देती है। भ्रम ही मनुष्य-जीवन के बंधन का कारण है। हम यह भूल जाते है कि संसार की वस्तुओं से लेकर शरीरो तक गुणों-अवगुणों का सामूहिक समूह स्थित है। गुणों की रक्षा अवगुणों से और अवगुणों की रक्षा गुणो से है। यह भी एक समझने का विषय है। अगर गुलाब के पेड़ पर कांटे न हों तो फूलों की सुन्दरता को अनेकों पशु रौंद डालें। या वे लोग जो उसकी कीमत नही जानते, वे उन फूलों को आसानी से वृक्ष से उतारकर उनका दुरु-पयोग कर डालें। फूलों की रक्षा पेड़ पर लगे कांटों से ही है। गुणों की कीमत जानने वाला ही गुणों

के साथ सम्मिलित अवगुणों की परवाह न करके गुणों को प्राप्त कर लेता है। संशययुक्त बुद्धि गुणों को ग्रहण या उनसे लाभ नहीं उठा सकती। जिस प्रकार से गुलाब का फूल लेने अगर कोई संशययुक्त बुद्धि वाला चला जाए और जैसे ही दूर से वह गुलाब के सुन्दर फूलों को देखे तो उन्हें प्राप्त करने के लिए उतावली से नजदीक पहुंच जाता है। परन्तु ज्यों ही फूलों के साथ कांटों को वह देखता है तो विचार करने लगता है: ये कांटे इस पर क्यों है ? जिस पर इतने कांटे हैं, वह सुन्दर कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार न जाने क्या-क्या सोच कर वह 'गुलाब' के सुन्दर भाव को भूल जाता है और कांटों के भ्रम-विचार में ही उलझकर वह वापिस लौट पड़ता है। वह उस समय भ्रम-बुद्धि के कारण अपने ध्येय तक पहुंचकर भी वापस लौट पड़ता है। इसी प्रकार से संशययुक्त बुद्धि मनुष्य को मणि के समीप पहुंचाकर भी उससे उसको दूर कर देती है। मणि सांप में होती है। सांप व सांप के विषैले अवगुण के कारण ही मणि की रक्षा होती है। सांप की मणि को जिस प्रकार कोई

दृढ़ निश्चय या युक्ति-युक्त मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है, हर कोई नहीं । इसी प्रकार इस संसार में गुणों का भी कोई विरला ही 'गुणों का ग्राहक' जो अवगुणों की ओर ध्यान न देकर अपने ध्येय की प्राप्ति में ही दृढ निश्चिय से ग्रहण करने में लगा है, वह अपने ध्येय को प्राप्त कर लेता है । जिस वस्तु में गुण अधिक है, वहां कोई न कोई अवगुण जरूर होगा । जहां अधिक अवगुण हैं, वहां अवश्य ही कोई सुन्दर और महान् गुण भी होगा । जौहरी अवगुणों में से भी अपने मतलब की वस्तु निकाल ही लेता है । जैसे कोयले की खानों में हीरा जैसी महान् वस्तु मिलती है । उसे जौहरी ही प्राप्त करता है । जिस प्रकार सांप में सब अवगुण ही अवगुण है । परन्तु वहां मणि जैसी महान् कीमती वस्तु भी निवास करती है । समुद्र में अमृत भी है; तो जहर भी । इसी प्रकार संसार के हर एक शरीर में कितने भी अधिक गुण क्यों न हों; पर अवगुण भी अवश्य होते हैं । विद्वान वही है, जो अपने 'ध्येय' प्राप्ति के मार्ग में भ्रमों में न उलझ कर अपने ध्येय प्राप्ति की ओर बढ़ता ही जाता है ।

संशय युक्त बुद्धि वाला मनुष्य अपने संयम का भी दुरुपयोग करता है। जितना समय वह संशयों के निवारण में लगाता है, उतने समय में वह अपने ध्येय की ओर जाने वाली मंजिल को तय कर सकता है। यही नहीं, संशययुक्त बुद्धि वाला मनुष्य अपने कर्तव्य से भी विमुख हो जाता है, और कर्तव्य-विमुख प्राणी जीवन-सुख से हीन हो जाता है। संशययुक्त बुद्धि वाला मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता। संशययुक्त बुद्धि द्वारा न भजन ही हो सकता है और न कर्तव्य का ही पालन कर सकता है।

संसार में संशय ही 'भ्रम' है। और 'भ्रम' ही अज्ञान है। संशयात्मक व भ्रमात्मक बुद्धि द्वारा किया कार्य मनुष्य जीवन के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है। हम शास्त्रों से, सत्संग से व महापुरुषों से कोई भी सुन्दर गुण ग्रहण क्यों नहीं कर सकते? क्योंकि हमें उन पर संशय हो जाता है। निर्गुण, निर्दोष, तो केवल एक 'परमात्मा' या 'आत्मा' ही है। हमें चाहिए कि, हम दोषों में से भी गुणों को ग्रहण करें। गुलाब के पेड़ पर लगे कांटे हमें तभी

दु ख देते है, जब हम उनसे खेलने लगते है, या उन से उलझते है । ससार मे कोई भी दोप या अवगुण हम पर तब तक, असर नही कर सकते, जब तक हम उनसे उलझें नही या धारण न कर ले। गुणो के ग्राहक पर अवगुण कोई भी असर नही करते । बल्कि हमे तो अवगुणो, दोपो से भी शिक्षा गुन लेना चाहिए। अवगुणो मे भी कोई न कोई महानता छिपी हुई है। हमे तो अपने ध्येय को आगे रखकर कर्तव्य द्वारा उसे प्राप्त करने मे लगे रहना चाहिये । हमारे ध्येय की ओर जाने वाले मार्ग मे चाहे कितनी भी 'सशय-युक्त' वस्तुए क्यो न हो, हमे उनका विचार न करके, अपने ध्येय को याद रखते हुए आगे वढते चले जाना चाहिए। राह मे आने वाले अनेको दोप स्वय पीछे छूटते चले जायेगे। जिस प्रकार रेल अपनी पटरी पर चलती हुई अनेको नदी, नाले, पर्वत, जंगल पार करती हुई अपने स्टेशन पर पहुच जाती है। इसी प्रकार मनुष्य को भी अपने 'जीवन लक्ष्य' की ओर, अपनी कर्तव्य 'पटरी' पर सवार होकर, अनेको गुण, अवगुण, दोप, कपट रूपी दु खो की भी परवाह न करते

हुए चलते चले जाना चाहिए। हमें संसार के हर-अच्छे-बुरे से सबक लेते हुए चलते रहना चाहिए। संसार का अर्थ ही संशय है। 'जहां संशय नहीं वहां संसार नही' का अर्थ है जिस बुद्धि में संशय नहीं उसके लिए संसार के दुख फिर दुख न रह कर सुख बन जाते हैं। 'दृढ़निश्चयात्मक बुद्धि' ही संसार और संसार-दुखों से पार लगाती है। जिस मनुष्य को अपनी आत्मा में दृढ़ निश्चय हो गया है; अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसकी दृढ़निश्चयात्मक बुद्धि उसके लिए वरदान बन जाती है। दृढ़-निश्चयात्मक बुद्धि ही ईश्वर की शक्ति है। संसार-सागर व दुःखों पर विजय इस बुद्धि से ही हो सकती है।

संशयों को दूर (निवारण) करने के लिए 'विचार' ही उपयुक्त साधन है। विचार द्वारा ही सशयों पर विजय होती है। परन्तु विचार की भी दो धारणायें हैं। शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध आत्मिक और अशुद्ध प्राकृतिक है। 'विचार' आत्मिक ही संशय निवारण में यथार्थ रूप में मनुष्य का साथी है। विचार करके ही दृढ़निश्चयात्मक बुद्धि की

प्राप्ति होती है। विचार मनुष्य जीवन की वह 'नाव' है जो दुःख सागर से जीव को प्राकृतिक बंधनों से मुक्त कराती है। प्यारे मानव ! विचार-शील होकर अपनी बुद्धि को दृढ निश्चयवाली बना। विचार और निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा अपने जीवन के सुख-स्वप्न को पूरा बना।

यह तो सत्य है कि सत्संग रूपी सुधा मानव-जीवन को पवित्र करने में महामणि है। सत्संग रूपी गङ्गा की निर्मल धारा में स्नान करने से मानव मन शांति व निर्मलता को प्राप्त करता है। सत्संग ही एक ऐसा कल्प-वृक्ष है जिसकी छाया में बैठकर मनुष्य चारों पदार्थों को प्राप्त करने के योग्य बन जाता है। लेकिन यह सब तब प्राप्य है जबकि सुनने व सुनाने वाला दोनों ही जिज्ञासु हों। केवल सुनना व सुनाना 'व्यसन' मात्र अगर है तो उससे दोनों को कोई लाभ नही। अब तो प्रायः यह देखने में आ रहा है कि आज दोनों ही इसे एक धन्धा-सा बनाये हुए हैं। यह एक प्रकार की आदत मात्र-सी बन गयी है। सत्संग सुनाने वाले महानुभाव भी सुनाना तक ही और उसके द्वारा अर्थ व्याख्या तक ही अपना कर्तव्य समझते हैं। उन्हें यह कोई विचार तक नहीं आता कि जिनको लम्बे समय से यह सत्संग सुना रहे हैं, कोई लाभ या असर हुआ भी या नहीं। वे भी

धन के ही ध्यान में मस्त हैं। और यह धुन है कि अपने सत्संग को इस प्रकार सुनाऊँ कि सुनने वाले रीझ कर अधिक से अधिक धन मुझे दे सकें। अपने सुनने वाले शिष्यों को इससे कुछ लाभ हुआ या नहीं, यह विचारने का कार्य स्वार्थ के कारण प्राय: वह भूल-सा गया है। इसी प्रकार से लोग भी सत्संग में चले आने तक ही में, यह समझ बैठते हैं कि, मुझको लाभ हो गया है। ऐसे लोग प्राय: सत्संग में या सत्संग भवन के अन्दर ही तक भक्ति व भगवान को तथा धर्म को समझते हैं। उसके बाद बाहर संसार में वह चाहे जो कर लें। संसार में दिन भर वह चाहे अकर्तव्य कर्म, अमनुष्यता का व्यवहार, हिंसात्मक कार्य, असत्यता, निर्दयता, निष्ठुरता, अश्लीलता, अक्षमा, द्वेषता, निन्दा, कठोरता का व्यवहार चाहे और कुछ भी कर लें, वह सब युक्त (उचित) ही समझते हैं। क्योंकि उन्हें शिक्षा ही यह दी जाती है कि सवेरे सत्संग, मन्दिर या देवालयों में जाकर सब पवित्र हो जायेंगे। आज का संसार भी उसी को बहुत धर्मात्मा, ज्ञानी, ध्यानी और भक्त समझता है जो

केवल सत्संग मे रोज जाना मान ही अपना धर्म समझता है। आज यह भी देखने मे आता है कि दिन भर चाहे लाखो का खून चूस लो और साय को मन्दिर मे प्रसाद या दर्शन करने से सब क्षमा हो जाता है। भला इस प्रकार आज तक किसका कल्याण हुआ या होगा। सत्सग और दर्शन तो उस को कहते है जिससे जीवन का अकर्तव्य कर्म का राह ही वदल जाये। और वह अपनी भूलो व गलतियो को पश्चाताप करके सुधार ले। सत्सग केवल सुनने व सुनाने मात्र तक ही नही है, बल्कि सुने हुए 'ज्ञान' द्वारा अपने जीवन को सुधार की ओर ले जाना उसका लाभ है। क्रियात्मक रूप से सत्सग मे सुने भावो को दिनचर्या से लेकर जीवन पर्यन्त तक पालन करने से मनुष्य को लाभ होता है।

अगर हमारी यह धारणा सत्य है कि हम जीवन का सुधार चाहते है। अगर हम सचमुच के जिज्ञासु है। अगर वास्तव मे हम अपना कल्याण चाहते है तो हमे सत्सग को केवल सुनने व सुनाने मात्र तक ही न समझकर, उसके प्रत्येक भाव को क्रियात्मक रूप से जीवन मे मन, कर्म, वचन से

अक्षरश: उतार कर उसका पालन करते हुए अपना व औरों का भला करना होगा। प्राय: यह भी देखने में आता है कि जब कोई दीन, हीन, दु:खी, किसी सत्संग सुनने या सुनाने वाले के सामने आता है, तो वह उसका तिरस्कार यह कहकर कर देता है: 'होगा कोई पापी, किए होंगे इसने कोई पाप कर्म। भोगने दो अपने कर्म का फल इसे। हमें इसके दु:ख से क्या प्रयोजन। जब भगवान ही इसे दु:खी बनाना चाहता है तो फिर हम इसकी मदद क्यों करें। इसकी मदद करके तो भगवान के इन्साफ (न्याय) में बाधा ही डलते हैं' जरा विचार कीजियेगा। इस प्रकार के व्यवहार से क्या हम धर्मात्मा या सत्संगी कहला सकेंगे।

हम भला यह क्यों नहीं सोचते कि अगर अज्ञानता से या कुसंग से वह कोई ऐसा कर्म कर भी बैठा हो, जिससे उसको दीन, हीन, दु:खी बनना पड़ा है, पर अब हमारा कर्तव्य भी तो कुछ है। ऐसे समय पर सान्त्वना देना या सहायता करना, यह भी तो हमारा कर्तव्य है। इस वक्त हम इस दु:खी को सुख पहुंचाकर या राह बताकर दु:ख से क्यों

न उसे बचा ले। पर यह सब सोचे कौन ? यहा तो कीर्तन, भजन व सत्सग सुनने मात्र तक को ही भगवान की सेवा-भक्ति समझते हैं। भला हम यह क्यो नही विचारते कि इस दु खी, दीन, हीन, अशान्त, शरीर मे भी तो आत्म-स्वरूप से भगवान विराज रहा है। इस दीन, हीन, अशान्त स्वरूप की सेवा ही भगवान की सेवा है। जिस प्रकार विद्यार्थी के पढे पाठ की परीक्षा होती है, उसी प्रकार से सुने हुए सत्सग व ज्ञान की भी परीक्षा दीन-दु खियो की सेवा या असेवा से होती है। इस परीक्षा मे पास प्राणी ही विद्यार्थी की तरह अगली श्रेणी मे जाने के योग्य बनता है। हम जब सत्सग मे सुनते है कि दीन-दुखियो की सेवा ही ईश्वर-सेवा है। इन से किया प्यार ही ईश्वर-प्रेम है। इनका किया आदर-सत्कार ही ईश्वर-सत्कार है। फिर हम यह सब करके दिखाने मे हिचकते क्यो है। क्योकि इस मे कष्ट है। क्योकि इसमे हमे कुछ देना पडता है। क्योकि इसमे हमारे सुख-स्वार्थ मे कमी आती है। हमे तो सुनना और सुनाना ही अच्छा लगता है। क्योकि उसमे पल्ला झाडकर गये और चले आये।

कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता। संसार में ज्ञान की परीक्षा तन से, मन से और धन से होती है। केवल सुनने और सुनाने से कोई लाभ न होगा। हमारी आदत बन चुकी है कि हम दूसरे से सब कुछ चाह कर उसको कुछ देना नहीं चाहते। कीमती हीरे को कौड़ियों में खरीदना चाहते हैं। भगवान-बोध जैसी निधि को हम आलस्यता से प्राप्त करना चाहते हैं। यह सब कैसे हो सकेगा। ज्ञान और कर्म रूपी पंखों से संसार-सागर पार हो सकेगा। केवल ज्ञान और केवल कर्म ही काफी नहीं हैं। दोनों को समान रूप से व्यवहार में लाने से ही मानव-जीवन पवित्र हो सकेगा।

जब हम लोग सत्संग में महापुरुषों के द्वारा सुनते हैं कि धर्मात्मा वही है जो धर्म के सम्पूर्ण अंगों से सुशोभित है। धर्मात्मा वह है जो जीवन को सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, शौच, दम, सम, इन्द्रिय-निग्रह, नम्रता, सरलता, निरभिमानता, निरहंकार, सन्तोष और शुद्ध विचार द्वारा चलाता है। वही धर्मात्मा है। फिर हम क्यों न नित्यप्रति एक-एक करके बुराइयों को दूर कर,

इन सुन्दर धर्म के अंगो को अपना लें, जब हम सुनते है कि शुद्ध वुद्धि युक्त और सचरित्रता युक्त किया कर्म ही ज्ञान की धारणा है तो फिर हम क्यों न चरित्रता और धर्मात्मभाव को मन-कर्म-वचन द्वारा अपना लें, जिससे मन की शान्ति, स्वय प्राप्त हो जाये। जो लोग सत्सग को या शुभ कर्मो को केवल सुनना व सुनाना मात्र तक ही जानते हैं, वे जीवन मे पवित्रता कैसे प्राप्त कर सकेंगे। वास्तविक ज्ञान उसी को कहते है जो जानने-सुनने के वाद जीवन को शुभ कर्मो मे लगाकर, जीवन-पवित्रता की ओर लग जाए। कई महानुभावो मे यह भी देखने मे आता है कि वे जरा-सी किताबी या शास्त्रीय दुनिया की सैर करके जरा वोध प्राप्त करते ही अहकार मे भर जाते है और सुने व पढे ज्ञान को सुनना मात्र तक ही अपना धर्म समझते है। भला जो स्वय अहकार व अभिमान मे चूर है, उनसे किसी का कल्याण कैसे हो सकता है। जब कि वे स्वयं का ही कल्याण नही कर पाते हैं। वे तो अपने ज्ञान को वेचकर धन प्राप्त करना तक ही अपना ध्येय समझते हैं। ऐसे धन के लोभी-'ज्ञानी'

के पास अगर कोई दुखी चला जाता है तो उनका हृदय जरा-सा भी पसीजना नहीं जानता। व्यवहार भी उनका केवल धन प्राप्ति तक ही सुन्दर रहता है। भला ऐसे अशान्त व स्वार्थ कामनाओं में चिन्तित मन किसी के मन की चिन्ताहरण कैसे कर सकेंगे। ऐसे ही महानुभावों के कारण आज सत्संग का प्रभाव समाप्त होता जा रहा हैं। ऐसे ही स्वार्थी लोगों के कारण आज समाज सम्प्रदायिकता के दायरे में घिरकर शक्ति हीन होकर अलग-अलग टुकड़ों में वंट चुका है। धर्म की अवस्था (निष्ठा) भी प्रायः समाप्त होती जा रही है। ऐसे किताबी कर्महीन पंडित 'मनघड़न्त' चिकनी-चुपड़ी बातों से समाज से अपना स्वार्थ पूराकर उसे अन्धकार के गढ़े में ले जा रहे हैं। इन सबका कारण यह है कि उन्हें केवल किताबी ज्ञान है। अनुभव नहीं। आत्म-बोध भी उन्हें नहीं। इसीलिए वे मानवता व आत्मीयता के भावों से शून्य हैं। जो स्वयं शून्य हैं, वे किसी को क्या दे सकते हैं। ऐसे लोग और उनके भक्त 'अनुयायी' भगवान को केवल कोरे ज्ञान द्वारा ही

प्राप्त हुआ समझते है। ऐसे लोगों का तो यहां तक विश्वास है कि भगवान केवल सत्संग-भवन में या उसमें बैठकर कथा सुनाने वालों में ही है। बाकी व्यवहार व कर्तव्यता क्या है—यह उन्हे क्या मालूम। जबकि उन्होंने कभी करके ही नहीं देखा। तभी तो ऐसे खोखले ज्ञान को बांटने वाले गुरु और शिष्य जीवन भर कोरे के कोरे ही रह जाते है। ऐसे सत्संग व सत्संग सुनाने वालों में लगाया समय व द्रव्य दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। मानव का आपसी मिलन व स्नेह में भेद-भाव फैलाने वाले व साम्प्रदायिकता रुपी विष-बेल फैलाने वाले लोग समाज व सत्संग तथा भगवान के परम द्रोही है। ऐसे लोग स्वयं भी अशान्त और भयभीत है।

आज समाज में ऐसे भी लोग है जिनके पास उनके शिष्यों के द्वारा दिया लाखों का धन है। पर वे केवल उन्ही के व्यक्तिगत सुख-साज में लग रहा है। वह धन जो उन्हें उनके शिष्यों के द्वारा धर्म में लगाने के लिए दिया गया था, उसे वे लोग अपना ही विलासिता का साधन बनाये हुए है। ऐसों के पास न दया है, न क्षमा और न सत्य-न्याय ही

है। उन्हें फुरसत और होश कहां कि वे किसीका दुःख सुनें। उन्हें तो केवल उपदेश देकर अपने सुख को सजाने की धुन सवार है। ऐसे लोगों को क्या अधिकार है कि वे किसीको उपदेश दें। और जो लोग ऐसों को अपना धन देते हैं वे भी समाज और भगवान के दोषी हैं। वह समाज की ही नहीं बल्कि देश और धर्म की हानि करवाते हैं। इन्हीं सब कारणों से आज हमारी सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एकताएं समाप्त हो गई है। चारों तरफ द्वेष, ग्लानि, अशान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। ऐसे लोगों को चाहिए कि वे तत्काल ही इस भेष को छोड़ कर वास्तविक स्वरूप को धारण कर लें। अन्यथा वह समय दूर नहीं जब उन्हें अपने कृत्य पर पछताना पड़ेगा।

कई स्थानों पर यह भी सुनने में आता है: 'गुरु जी आय तारेंगे'। भला जरा विचार तो करो, जिस शरीर को आप गुरु जी कह रहे हैं, जिस शरीर पर आपको इतना विश्वास है, वह शरीर बेचारा खुद ही नाशवान है। भला जो स्वयं ही नाशवान है, वह दूसरे को क्या तार सकेगा। जो खुद ही तरने

के योग्य नहीं। तरेगा वह जो गुरु-ज्ञान की नाव में बैठकर कर्तव्य का चप्पू चलायेगा, सन्मार्ग की ओर।

तरेगा वह जो ज्ञान-नेत्र से सत्य-असत्य को पहचान कर, असत्य को त्यागकर सत्य को धारण करेगा। तरेगा वह जो धर्म-रूपी रथ में बैठकर कर्तव्य-पथ पर चलेगा। तरेगा वह जो सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, सन्तोष, विचार, दम और समानता रूपी सुन्दर गुणों के रंग में अपने को रंग लेगा। पानी पिये बिना प्यास कैसे बुझेगी। दवाई पान किये बिना रोग मिटेगा कैसे? प्रकाश हुए बिना अन्धेरा मिटेगा कैसे? इसी प्रकार सुने, पढे, ज्ञान को जीवन में क्रियात्मक रूप से धारण किये बिना बोध कैसे होगा ?

सत्संगामृत का या भगवतानन्द का अगर सचमुच कुछ आनन्द चाहते हो तो संसार और शरीर-व्यवहार को पहले निर्मल बना दीजियेगा। यही ज्ञान और कर्म की कसौटी है। उस पर परीक्षा देनी होगी। तब मालूम होगा कि आपने आज तक क्या कुछ पाया सत्संग या भजन से। संसार ही

मानव की व मानवता की कसौटी है। इस कसौटी पर खरा उतरने वाला ही परमानन्द का आनन्द ले सकेगा। कहने और सुनने मात्र से कुछ न होगा। कसौटी सब का रंग साफ बतला देगी कि काला है या सफेद, खरा है या खोटा। भाई! अगर भगवान के चरणों की सेवा करनी है तो शरीर रूपी मन्दिरों में विराजने वाले आत्म-देव की सेवा कर। अगर मन शान्त करना चाहते हो तो औरों के मनों को शान्ति दो। अगर सुख की नींद सोना चाहते हो तो सबको सुख की नींद सुलाकर तब सोओ। अगर मधुर वचन सुनना चाहते हो तो मीठा (मधुर) बोलो। अगर सम्मान चाहते हो तो दूसरों को सम्मानित कीजियेगा। अगर धन चाहते हो तो दीन, हीन, गरीबों को दान दीजियेगा।

अगर सम्पूर्ण सुख चाहते हो तो पुरुषार्थ कीजियेगा। अगर किसीको समझाना चाहते हो तो पहले खुद को समझ लीजियेगा। अपने को बनाने से पहले मिटाना पड़ता है। यह संसार कर्म-भूमी है। यहां जो देगा वह लेगा। जो बोयेगा सो काटेगा। जो बांटेगा सो ही पावेगा। यहां न्याय है,

अन्याय नही। ईश्वर ने संसार, शरीर और बुद्धि मानव को सौंपी है। इसका उचित प्रयोगकर और जीवनानन्द का आनन्द ले।

प्यारे मित्रो ! जरा सोचो-विचारो, केवल कमरे में बैठकर खडतालों की धुन लगाकर ही धर्म का प्रचार न होगा। कर्मक्षेत्र में पुरुषार्थ रूपी खेती करके भाग्य रूपी सुन्दर फल को प्राप्त करो। वह समय बीत गया, जब हमारे मन पवित्र थे। जरा-सी शुद्ध पुकार से ही भगवान प्रसन्न होते थे। अब तो हमें अपने काले मन के दागों को सेवा से, शुभ कर्म से, शुभ विचारों से पवित्र करना होगा। यहां एक तरफ खडतालों और ढोलकों की ताल और दूसरी तरफ दुखियों की 'चीत्कार' और 'आर्त-पुकार' यह सब दोनों एक साथ कैसे बनेगा। पहले दीन, दुखियों, और अशान्तों को सुख और शान्ति दीजियेगा। तब हमारा किया भजन सत्संग सफल होगा। भगवान का दर्शन अगर करना है तो सुन्दर व्यवहार और कर्तव्य को धारण कर लीजियेगा। हमारे शरीर का एक अंग दुःखी है। उसे सुख पहुंचाये बिना हम सुख की नीद कैसे सो सकेंगे।

हमारा पड़ोस का घर दुःख की ज्वाला में जल रहा है। हमारे अन्य सुखी घर अपने को सुरक्षित क्यों कर समझ रहे हैं। यह दुःख, अशान्ति की आग धीरे-धीरे बढ़कर हमारे सुख-शान्ति को भी घेर लेगी। इसलिए अपनी सुरक्षा के लिये अपने पड़ोस के अरक्षित घरों की रक्षा कीजियेगा। इन दुःखियों की आह एक दिन हमें भी अशान्त बना कर रख देगी। पहले बचाओ तब बचो। हमारा सुख तभी स्थिर रह सकेगा जब हम पहले दुखियों को भी सुखी बना लेंगे। हमारा कर्तव्य ही नहीं बल्कि धर्म है कि हम अपनी रक्षा के लिए दूसरों की रक्षा करें। अपनी निर्भयता के लिए दूसरों को निर्भय बनाएं। इस प्रकार सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य व राम-राज्य छा जायेगा। हमारी सफलता तब है जब हम दूसरों को पहले सफल बनावें।

आज का सुखी : कल का दुःखी

प्रत्येक मनुष्य अपने ही संस्कारों (कर्मफलों) को भोग रहा है। जो आज भाग्यवान हैं वे अपने ही पुरुषार्थ का आनन्द ले रहे हैं। परन्तु इनका यह सुख तब तक का है जब तक यह परिवर्तनशील सुख, समय पाकर समाप्त नहीं हो जाते। अपने पुरुषार्थ द्वारा कमाये धन का जो लोग स्वार्थ हित व अनेकों अनर्थकारी मार्गों में व्यय करते हैं वह धन तत्काल ही नष्ट हो जाता है। और फिर 'आज का सुखी, कल का दुखी' बनकर दीन, हीन, याचक बन जाता है। जो लोग अपने धन को केवल अपने व अपने परिवार के ही वैभव साधन में लगा कर, इसका दुरुपयोग करते हैं वे वास्तव में धन का उचित प्रयोग करना नही जानते। सुख, भोग विलासिता में व्यय किया धन मनुष्य को कुमार्गी, व्यसनी, कुचाली, बनाकर अपने को व मनुष्य को नष्ट कर देता है। पुरुपार्थ द्वारा कमाया धन अगर उचित मार्ग पर व्यय नहीं किया जाता, तो वह

धन, सुख के बजाय दुःख का स्वरूप धारण कर लेता है। मानव-जीवन का और मानव द्वारा कमाये धन का वास्तविक आनन्द तो वे लोग लेते हैं, जो उस को मानव-हित-रक्षा में, परस्वार्थ व परहित में लगाते हैं। परकाज में लगाया धन कल्प-वृक्ष की तरह अनेकों कामनाओं को देने वाला फल बन जाता है। शुभ-मार्ग व शुभ-कर्म में लगाया धन अक्षयता को प्राप्त होकर अनन्त समय तक मानव को सुख देता रहता है। स्वार्थ भोग में लगाया धन, और शक्ति, क्षयप्रद है। मानव जीवन की मानवता व पवित्रता तो त्याग में है, न कि भोग में। स्वार्थ तो पशु में भी है। अगर मनुष्य होकर भी उससे स्वार्थ का त्याग नहीं हो सका तो समझो कि वह अपनी मानव-शक्ति से हीन है। स्वार्थ तो पशुओं के धारण करने योग्य भूषण है न कि मानव का। इस संसार में चाहे कोई कितना भी बड़ा संत, महात्मा, धार्मिक व सामाजिक नेता क्यों न हो, अगर वह अपने स्वार्थ-साधनों को बनाने या बटोरने में लगा है तो समझो अभी वह मानवता से दूर होकर दानवता का पार्ट अदा कर रहा है। अपने

स्वार्थ में रत रह कर बड़े से बड़ा काम करने वाला भी कुछ नहीं है। समझो कि वह पतन की ही ओर जा रहा है। महान वह है जो अपने स्वार्थ का त्यागकर दूसरों को महान देखना चाहता है। धनवान बन जाना, विद्वान बन जाना, संत-महात्मा बन जाना, नेता व गुरु बन जाना, सब आसान है परन्तु स्वार्थ का त्याग कर परस्वार्थ में रत होकर मानवता प्राप्त करना बड़ा ही कठिन है। यह सब ऊपर लिखे जितने भी 'बनने' वाले हैं, एक दिन बगड़ भी जायेंगे। इनकी कुशलता तब तक है, जब तक कि उनके साथ में स्वार्थ से कमाया नाशवान प्राकृतिक सुख है। परन्तु यह सब परिवर्तनशील होने के नाते नाशवान है। आज का 'सुखी' सुख समाप्त होते ही कल का दुखी बन जायेगा।

मनुष्य विचार नहीं करता। वह यह नहीं सोचता कि यह नाशवान धन, वैभव, पुत्र, परिवार, सब कब तक मुझे सुखी बना सकेंगे। यह सब समय आने पर साथ छोड़ जायेंगे। उस मानवता को क्यों नही अपनाता जो दुःख में भी सुखी बनाता

है जो देश-विदेश, अच्छे-बुरे सभी प्रकार के देश और काल में भी मनुष्य की रक्षा करता है। जो आज के धनवान और सुखी हैं वे यह क्यों भूल जाते हैं कि संसार-चक्र बड़ा ही बलवान है। वह समय आने पर सब को ही परिस्थितियों के चक्कर में डालकर दुःखी बना देता है। उस वक्त तुझे भी दीन, हीन, दुखी होना पड़ेगा। इस वक्त तेरा सहायक अगर कोई हो सकता है तो वह है, तेरा परम पुरुषार्थ और परस्वार्थ, तथा दूसरों की की हुई सेवाओं का अमर फल, या तेरे द्वारा किया मानवता का महान उत्तम फल। दीन या दुःखी होना यह किसी विशेष के ही भाग्य में नहीं है। यह तो जीवन-खेल का फल है। यह फल उन सबको ही चाखना

में अपने को मस्ताना बनाये फिर रहे है। यह संसार दुःख उनको ही भोगना पड़ता है। यहां तो समय का फेरा सबको दुःख के फेर में ले जाता है। यह न सोचो कि हम सदैव यूँ ही सुख भोगों में ही रह सकेंगे। यहां तो सब आनी-जानी का मेला है। इस संसार-मेले में आकर कुछ उपकार कर, कुछ सेवा कर, ताकि मेला खत्म होते ही तेरे पल्ले भी कुछ कमाई पड़ जाए। इस मेले में अगर स्वार्थियों के गरमा-गरम बाजार में तू कही भ्रमित हो गया तो, समझ कि गांठ की पूजी भी गुमा बैठेगा और स्वार्थी लोग अपना स्वार्थ पूरा करके कूच करके, तुझे अकेला नि.सहाय छोड़ जायेंगे।

प्यारे मानव! जरा सभल जा और बुद्धि से काम ले और स्वार्थ से पूर्ण इस संसार मेले में अपने को लुटाने से बचा। यहां स्वार्थियों के झूठे प्रलोभन में आकर मानवता का सौदा न कर। इस हीरे को कांच की बाहरी चमक-दमक से मत लुटा दे। यह पल भर का बाजार तुझे लूटकर अपना स्वार्थ पूर्ण कर, और तुझे गफलत (मोह) की नींद में सुलाकर कूच कर जायेगा। खड़ा हो ? चिन्ता को दूर कर।

मानवता को धारण कर। स्वार्थ का त्याग कर। और कुछ कमाना चाहता है तो परकाज, परस्वार्थ, सेवा रूपी अमृत के खजाने को भर, यही तेरा जीवन है। इसी खजाने की खोज में तू आया है। राह में ही इन मायावी वाटिका में भ्रमित मत हो। अपने खजाने की तरफ बढ़ और जीवन के ध्येय को पूरा कर।

आज के क्षणिक सुख को ही अक्षय-सुख मत समझ। यह तो तेरे ध्येय की ओर जाने में मायावी भुलावा है। इस मोह, ममता, के भ्रम को भी त्याग और अपने मानव-जीवन के 'सत्य-सुख' की ओर बढ़ता ही चला जा। स्वार्थ तेरे जीवन का महान शत्रु है। काश ! कि तू यह सब समझ पाता तो तेरा जीवन 'जीवन' बन जाता। स्वार्थ का मुकुट सिर से उतार और मानवता का मुकुट पहनकर, जीवन 'नाटक' का 'अभिनय' सफलता से कर। अपने सुख के लिए तो पशु भी रोता है। यही वृत्ति अगर तेरे में भी है तो पशु और तुझ में अन्तर क्या है ?

भाई ! धन्य जीवन वही है जो इन क्षणिक सुखों की भी परवाह न करके पर-सुख-काज में

लीन है। धन्य व पूजनीय वही है, जो अपने लिए कुछ न चाहकर दूसरों के लिए सब कुछ चाहता है। वह मानव भी क्या मानव है जो सुख की नींद सो रहा है; जबकि उसका संसार और संसार के लोग दुःखी हैं। हमें तो तब तक आराम ही नहीं करना है, जब तक कि हमारी मानव व अन्य जीव जातियां दुखी है।

हे भगवान की भक्ति चाहने या भक्त बनने वाले भाई! क्या तू नही जानता तेरा, भगवान भी तो अपने लिए कुछ न चाहकर दूसरों को अर्थात संसार को सब कुछ देता है। तेरा भगवान भी तो अपने भक्तों के लिए चिन्तित-अशान्त रहता है। फिर तू क्यों नही अपने भगवान की ही तरह अपने लिये कुछ न चाहकर दूसरो के लिये सब कुछ चाहता। भगवान के प्यारे इन्सान! अपने भगवान का अनुसरण कर, उससे ही तेरी भक्ति सफल हो जायेगी।

कई बार अनेकों सन्तों व सज्जनों को यह कहते भी सुना जाता है—हमें क्या है संसार से। हम तो अब मुक्त है दुनिया से। हमें तो प्राप्त हो गया है

परमानन्द। हमारी तपस्या हो चुकी है पूर्ण। हो चुका है हमें 'आत्म-बोध'। अब तो हमें ज्ञान हो गया है सब शास्त्रों का। भला यह सब कैसे हो गया है सब पूर्ण। जबकि उनका दूसरा 'अंग' दुखी है, अशान्त है, और अज्ञानी है। हमारा ज्ञान, हमारी शान्ति, हमारा आत्मबोध, हमारा शास्त्र-बोध, तब तक 'बोध' नहीं है जब तक हमारे संसार का प्रत्येक प्राणी सुखी, ज्ञानी, बोधत्व प्राप्त व दुःख-बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता। सम्पूर्ण संसार व संसार का प्रत्येक प्राणी हमारा अंग है। हमें अपने को तब तक शान्त व मुक्त नहीं समझना चाहिये जब तक हमारा एक भी प्राणी अशान्त, दुखी, व मुक्त नहीं है। दुख व अशान्ति की आग अगर संसार के किसी भी कोने में है तो वह फैलते-फैलते एक दिन हमें भी अशान्त व दुःखी बना सकती है।

वह सन्त भी क्या सन्त है जो संसार को दुःख, ग्लानि, चिन्ता, द्वेष की आग में जलता देख कर भी शान्त है। क्या करना उस किताबी ज्ञान व बोध का जिसके द्वारा संसार के कल्याण का साधन नहीं बना।

सन्त व महात्मा जो अपने को ज्ञानी, सुखी, शान्त व मुक्त समझते हैं, यह सब तब तक सत्य नहीं है जब तक कि उनका एक प्राणी भी संसार में दुःखी है। वह सन्त भी क्या सन्त है जो अपनी ही मस्ती में मस्त होकर सुख की नींद सो रहा है। सन्त को, महात्मा को तबतक सुख, नीद, चैन, आराम कहां जब तक कि उसका संसार सुख-चैन से नहीं सोता। हमारी नींद, भूख, प्यास, सुख, चैन सब संसार के साथ है। संसार भूखा, प्यासा, दुखी, है तो सन्त भी दुखी है। संसार सुखी है तो सन्त भी सुखी है। संसार दुःख बन्धन से मुक्त है तो सन्त भी मुक्त है। यह है मानवता।

हमारा यश, कीर्ति, उपमा, सम्मान तब रह सकता है जबकि हम औरों को भी इसी प्रकार बना हुआ देखें। आत्मा तो सर्व व्यापक आसमान की तरह है। अगर एक हिस्सा मुक्त हो गया और दूसरा हिस्सा अगर अभी बन्धन में है तो वह मुक्ति कैसी? प्यारे मानव! विचार कर और अगर अपनी मुक्ति चाहता है तो पहले दूसरों को मुक्त कर। महात्मा वही है, सज्जन व महान् वही है जो

अपने ही समान दूसरों को भी देखना चाहता है।

मेरा तो अपना जहां तक विचार है कि जो सन्त अपने को मुक्त, संसार को मुक्त किये विना समझते हैं वे वास्तव में अभी समझे ही नहीं। मेरा सुख, मेरी नींद, मेरी मुक्ति, मेरी गति-विधि, मेरा भाग्य, मेरा स्वर्ग, वैकुण्ठ सब तो तब सफल है जब यह संसार इसको प्राप्त हो जाये। मैं तो भयंकर दुःख को भी उस वक्त सुख समझ कर अपनाने को तैयार हूं जब कि उसमें किसी का कल्याण होता हो। क्योंकि मेरा कल्याण ही दूसरों के कल्याण में है। मैं तो स्वर्ग से अधिक आनन्द नरक में समझता हूं जहां मेरे दुःखी अशान्त मन पड़े हैं। मेरा जीवन और प्राण सब दुखियों के लिए है। जो अपवित्र हैं, जो ठुकराये हुए हैं, जो गिरे हुए हैं; वे सब मेरे पूज्य, प्रिय, व अपनाने योग्य हैं। वे मेरे हैं और मैं उनका हूं। यह मेरे मन की दृढ़ धारणा है।

सच जानना, जो लोग उपदेश देकर या भिक्षा मांग कर धन कमाते हैं और उसे अपने ही सुख-स्वार्थ में खर्च करते हैं, वे वास्तव में दुःख ही

कमाते हैं और भोगते हैं। जो भिक्षा मांग कर उस धन, अन्न, वस्त्र से दूसरों का सुख-साज सजाते हैं, वही लोग इस सृष्टि का सच्चा आनन्द लेते हैं। सुख लेने में नहीं बल्कि देने में है। जो इस रहस्य को समझेगा वही ज्ञानी, ध्यानी, सन्त, सज्जन, दाता और सुखी है। भोगने वाला और लेने वाला दोनों ही दीन व दुखी है। सुखी वही है जो सुख बांटने में लगा हुआ है। इस रहस्य को वही समझेगा जो इस रहस्यमय रथ में आरूढ़ है। रथ का आनन्द वही लेता है जो रथ पर सवार होकर चलता है। देखने-सुनने वाले तो केवल तमाशे में ही समय खोते हैं। वे यह नहीं विचारते कि तमाशे में क्या रखा है। जरा हम भी इस रथ में बैठकर इसका आनन्द देखें। जब देखने-सुनने में ही इतना आनन्द है तो बैठकर चलने में तो न जाने कितना अपार सुख मिलेगा। पुरुषार्थ और परस्वार्थ इस सुख-रथ के दो पहिये है। सन्तोष और विचार इस रथ के दो घोड़े है। शुद्ध और सम मन इस रथ का सारथी है। शुद्ध चेतन बुद्धि युक्त जीव इस रथ का स्वामी है। कर्तव्य इसका पथ है। सत्य इसका ध्येय

मिट सकेगी न कि जप करने से या व्रत रखने से। कई लोग विचार करते है कि व्रत करने से अर्थात भूखा रहने से मन को शान्ति मिलती है। यह बात उनकी यहा तक ही सत्य है क्योंकि जब भोजन का त्याग किया जाता है तो सभी कर्मेन्द्रिया शिथिलता, दुर्वलता को प्राप्त हो जाती हैं और इन्द्रियो की दुर्वलता के समय मन की गति कुछ रुक-सी जाती है। पर यह सब कहा तक ? आखिर भोजन तो करना ही पडेगा। भूखा कब तक कोई रह सकेगा। भोजन पाते ही सभी कर्म व भोग इन्द्रिया फिर शक्तिशाली वन जायेंगी और उनके साथ ही मन की चचलता और अशान्ति भी। जब तक भोगो मे वासना की प्रवृत्ति वढती रहेगी, तब तक मन अशान्ति के वेग को धारण करता ही जायेगा। मन को कोई चाहे कि हठ पूर्वक रोका जाए यह भी अ्सम्भव नही है क्योकि हठ कष्ट के साथ-साथ शरीर-हानि और वुद्धि हानि का भी कारण वन सकता है। हठ की भी सीमा समाप्त होते ही मन सहित इन्द्रिया फिर अपना जाल बनाना आरम्भ कर देंगी। शरीर व इन्द्रियो तथा मन के साथ हठ करना

(लक्ष्य) केन्द्र है। इस सत्य-केन्द्र को प्राप्त करने के लिए ही मानव-जीवन मिला है। इसी की प्राप्ति में की गई उपासना सत्य उपासना कहलाती है।

हमारी अशांति का कारण

मनुष्य (मानव) शरीर पर लगे यंत्रों में मन का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसकी शान्ति में ही जीवन शान्ति है और इसके अशान्त रहने में ही जीवन-अशान्त रहता है। मानव के पास कितना ही वैभव क्यों न हो, अगर मन शान्त नहीं है तो वैभव, भोग, आनन्द सब ही अशान्तमय बन जाते हैं। मन का शान्त रहना और न रहना यह जीव की तृष्णायुक्त इच्छाओं पर है। मन का अशान्त रहना या भोगों में वासना की भावना रखना प्रधान कारण है। मन की शान्ति मन्त्रों के जपने से या अनेकों गीता-भागवत पाठ पढ़ने से भी नहीं हो सकती। मन की शान्ति का सबसे उत्तम से उत्तम उपचार सन्तोष और विचार से ही होना आवश्यक है। जैसे थकने वाला आराम, आराम करने से ही पाता है। धूप का घबराया छाया में ही शान्ति पा सकता है तथा प्यासे की प्यास पानी पीने से ही

मिट सकेगी न कि जपकरने से या व्रत रखने से। कई लोग विचार करते है कि व्रत करने से अर्थात भूखा रहने से मन को शान्ति मिलती है। यह बात उनकी यहां तक ही सत्य है क्योंकि जब भोजन का त्याग किया जाता है तो सभी कर्मेन्द्रियां शिथिलता, दुर्बलता को प्राप्त हो जाती हैं और इन्द्रियों की दुर्बलता के समय मन की गति कुछ रुक-सी जाती है। पर यह सब कहां तक ? आखिर भोजन तो करना ही पड़ेगा। भूखा कब तक कोई रह सकेगा। *भोजन पाते ही सभी कर्म व भोग इन्द्रियां फिर* शक्तिशाली बन जायेंगी और उनके साथ ही मन की चंचलता और अशान्ति भी। जब तक भोगों मे वासना की प्रवृत्ति बढ़ती रहेगी, तब तक मन अशान्ति के वेग को धारण करता ही जायेगा। मन को कोई चाहे कि हठ पूर्वक रोका जाए यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि हठ कष्ट के साथ-साथ शरीर-हानि और बुद्धि हानि का भी कारण बन सकता है। हठ की भी सीमा समाप्त होते ही मन सहित इन्द्रियां फिर अपना जाल बनाना आरम्भ कर देंगी। शरीर व इन्द्रियों तथा मन के साथ हठ करना

समझो कि अपने को किसी भयंकर तूफान में डालना है। यह भी एक समझने योग्य विषय है। जिस प्रकार एक वेग से, बहती नदी में अगर कोई बांध बांधे और उसके पानी के निकास (निकलने) का रास्ता अगर न रखा जाये तो आखिर वह अपनी सीमा तक रुकने-थमने के बाद भयंकर रूप लेकर बांध को भी नष्ट करके बहने लग जायेगा और उस वक्त उस रुके पानी का तेज प्रवाह भयंकर रूप लेकर जाने क्या कुछ न कर बैठे। इसी प्रकार अगर हमने हठ करके इन्द्रियों के भोग वेग को मन सहित रोक भी लिया तो वह समय पाकर जरा-सी असावधानी होते ही अपने वेग से भयंकर रूप लेकर जीवन को ही नष्ट कर देगा। क्योंकि शरीर इन्द्रियों सहित प्राकृतिक परिवर्तन शील मायावी धागे का बुना हुआ जाल है। यह परिवर्तनशील होने के नाते मन और स्वभाव भी परिवर्तनशील है। इसकी ऐसी धारणा के कारण स्वभाव और मन कभी भी अपने विचार और धारणाओं को बदल सकता है। असावधान होने का समय भी आ सकता है। क्योंकि घी का स्वभाव है अग्नि के नजदीक

पहुंचते ही पिघल जाता। इसलिए अगर घी को पिघलने से रोकना है तो आग को ठण्डा करना होगा या आग के नजदीक ही न जाना होगा। परन्तु यह सब मनुष्य के साथ होना बड़ा मुश्किल है। आखिर जीवन में वह कई बार ऐसे स्थानों पर भी जायेगा ही जहां पर घी को पिघलाने वाली भयंकर अग्नि भी होगी। उस स्थान पर वह फिर अपने दृढ़ को रोक न सकेगा और आखिर असावधानी वर्तने में आ ही जायेगी। मन की अशांति क्यों है? मन के चंचल और अस्थिर होने का क्या कारण है। मन रुकता क्यों नही? यह अनेकों मन अशान्तों के हृदय में उठते हैं तथा अनेकों इस मन को शान्त करने के लिए न जाने क्या कुछ नहीं करते। परन्तु यह प्रश्न तब तक हल नही होता जब तक कि उस का वास्तविक उत्तर नहीं मिल जाता। इसी प्रकार हम जब तक यह मालूम न कर लेंगे कि हमारे मन की अशान्ति का मूल कारण क्या है तब तक उस का पूर्ण उपचार न हो सकेगा। मैं पीछे से भी कई स्थानों पर प्रकृति तथा प्रकृति सम्बन्धित सभी वस्तुओं के परिवर्तनशील स्वभाव के विषय में

वह यह नहीं जानता कि जिस सुख को प्राप्त करने में जितनी आसानी (जल्दी) होती है, वह सुख आसानी से और जल्दी से ही समाप्त भी हो जाते हैं। कीमती चीज को प्राप्त करने के लिये बड़ी कीमत देनी पड़ती है। जो जितनी सस्ती है वह सस्ते में ही समाप्त भी हो जाती है। सांसारिक भोग जरा से परिश्रम से ही प्राप्त हो जाते हैं परन्तु वे उतनी ही जल्दी समाप्त भी हो जाते हैं।

आत्म-सुख प्राप्त करने में जरा कठिनाइयों का सामना और संसार-सुखों का त्याग करना पड़ता है। यह तो साधारण सी बात है कि बड़ी वस्तु की प्राप्ति में छोटी वस्तुओं का त्याग स्वयं ही हो जाता है। इसी प्रकार परम अक्षय सुख, आत्मा का, प्राप्त होते ही मन फिर सांसारिक क्षणिक परिवर्तनशील सुखों से स्वयं निवृत्त होकर अक्षय सुख में ही लीन हो जाता है। तब जो कठिनाई मन को इन सांसारिक सुख-भोगों को त्यागने में होती थी वह अब इस परम सुख को प्राप्त होते ही नहीं होती। क्योंकि मन का यह भी स्वभाव है कि वह इन क्षणिक सुखों में भी उसी सुख को लेता है जो उसे बढ़कर

लगते है। छोटे सुखो को वह उस वक्त त्याग देता है; जब बडा सुख उसे मिल जाता है। आत्मानन्द सुखो की अन्तिम सीमा है। इससे बढकर दूसरा सुख नही है। मन को जब बढकर सुख नजर नही आता तब वह उसी मे स्थिर हो जाता है। आत्मा का आनन्द प्राप्त होते ही मन भी स्थिर हो जाता है। नित्य आत्मा मे ही रमण करने वाला मन आत्म स्वरूप ही बन कर सुख स्वरूप बन जाता है। ऐसा मन सबको पवित्र करने के योग्य बन जाता है।

मन को अशान्त व दुखी होने से बचाने के लिए और कोई रोक या बन्धन इतना उपयुक्त नही है, जितना कि सन्तोष, विचार और समता है। बुद्धिवान, ऐसे समय पर जबकि मन को चचल होने का अवसर मिले या कुसग मिले तब सन्तोष, विचार व सत्सग से फायदा उठाकर उसे रोक लेते है। हठपूर्वक किया साधन शुरु से आखिर तक ही दु सकारक है। मन को विचार द्वारा समझाने से कोई कष्ट भी नही होता और समय से लाभ भी मिल जाता है। सन्तोष परम सुख और विचार परम लाभ है। विचारयुक्त पुरुष ही मन पर विजय

प्राप्त करके अक्षय सुख की ओर उसे लगाता है। इस संसार का सच्चा आनन्द सन्तोपी और विचारवान ही लेता है। संसार कार्य भी उसके सफल होते हैं जो सन्तोपी व विचारवान है। मन को बस में करने के लिए कोई तंत्र-मंत्र न करके इसे सन्तोपी और विचारवान् बनाइये। इससे ही सम्पूर्ण सुखों सहित शान्ति प्राप्त होगी। विचार सूर्य की तरह अन्धकार का नाश करने वाला सूर्य है। अज्ञानता रूपी अन्धकार को मिटाने के लिए विचार रूपी सूर्य का आश्रय धारण करो। विचार रूपी सूर्य सर्वत्र मित्र की तरह सुख देने वाला है। सर्वत्र सन्तोप और विचार की उपासना में रहने वाला इस संसार का परम लाभ प्राप्त करता हुआ परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

शुभ विचारों में रमण करने वाला मन ही जीवन है और अशुभ भावनाओं में बहने वाला मन ही दुःख, अशान्ति और ग्लानि का कारण है। मानव का सही स्वरूप ही उसका मन है। जिस वक्त जैसा स्वरूप मन का होता है, वही स्वरूप जीवन का भी बन जाता है। शरीर के बाहर की बनावट का

इतना महत्व नही जितना कि आन्तरिक मन, विचारों का है। मनुष्य की उन्नति का विषय भी बाहर की बनावट पर नही है बल्कि उसके अन्तर में रहने वाले विचारों पर है। कई लोग शरीर की बनावट व सुन्दरता को ही मनुष्य-जीवन की उन्नति समझते हैं। सुन्दरता का महत्व तो उसकी अवधि तक ही है। सुन्दरता नष्ट होने वाली वस्तु है और उसके नष्ट होते ही उन्नति भी नष्ट हो जाती है। लेकिन देखने में आता है कि सम्मान, आदर, यश, कीर्ति भी सुन्दरता पर नही बल्कि गुणों पर निर्भर है। जिस तरह से लोग जानते है कि शरीर सुन्दरता ही जीवन है पर यह कब तक। जैसे आप ही लोग जब किसी सुन्दर शरीर पर आकर्षित होते है और यत्न-पूर्वक उसे प्राप्त भी कर लेते हैं, मित्रता भी चलने लगती है, पर धीरे-धीरे उस सुन्दर शरीर में से जब दुर्गुणों व विकारो की बू प्रकट होने लगती है, तब वह सुन्दर शरीर कितना भी सुन्दर और प्रिय आपके लिए क्यों नही है, फिर भी वह आपकी नफरत और घृणा का पात्र बन ही जाता है। जिस को प्राप्त करने में कितना ही कष्ट उठाया होता है

पर त्यागने में देर नहीं लगाते। इससे यह सत्य सिद्ध हुआ कि मानव-जीवन की सुन्दरता शरीर नहीं बल्कि सुन्दर गुण है। गुणवान्, विचारवान् की ही सर्वत्र पूजा होती है। शरीर की सुन्दरता का महत्व तो भोगी, कामी, स्वार्थी ही रखते हैं न कि ज्ञानी। मानव के सही स्वरूप का पता उसके मन के भावों के प्रकट होने पर लगता है। जिनका मन पवित्र है वह बाहर से कितने भी भद्दे क्यों न हों फिर भी पूजनीय ही हैं। मन की पवित्रता प्राप्त करना ही मानव जीवन का ध्येय है और मन पवित्र होते ही संसार भी पवित्र हो जाता है।

आज का भोगी : कल का रोगी

यह तो सबके ही मन पसन्द की बात है कि भोगों में सुख है, मजा है और लुत्फ़ है। पर इससे भी बड़े मजे की बात यह है कि जिन भोगों को हम भोगते हैं वे हमारे जीवन का क्षय कर रहे हैं। हमारी आयु क्षीण हो रही है। जो जितना अधिक सुखकर भोग भोगता है, वह उतने ही भयंकर रोग से पीड़ित भी होता है। भोगों को भोगना जितना आसान है, रोगों की पीड़ा उतनी ही असहनीय होती है। हमारे जीवन की जो अमूल्य निधि है, उसे हम भोगों में ही जब क्षय कर देते है तब हमारी दुर्बलता का प्रमाण हमें उस वक्त मिलता है जब उसके भयंकर परिणाम हमारे सामने आते हैं। जिस प्रकार वसंत का सही स्वरूप पतझड़ है, उसी प्रकार से भोगों का स्वरूप रोग और वृद्धावस्था है। अगर मनुष्य जीवन भर भोगों से दूर रहे, तो उसकी आयु लम्बी और अक्षययुक्त हो जाती है। आह ! मनुष्य यह क्यों नहीं सोचता कि वह अपनी

मानवीय शक्ति को जिन भोगों में क्षय कर रहा है; वह शक्ति तुझे अक्षय पद की भी प्राप्ति करा सकती है। मानव ! तू यह क्यों नहीं समझता कि अपने अन्दर के मज़े (लुत्फ़) को तू भोगों में व्यय कर रहा है, वही अगर अन्दर रहे तो वह परम आनन्द को देने वाली बन सकती है। परन्तु यह सब भोगी संसार क्या जाने। भोगों की कीमत तो योगी ही जानता है जो भोगों पर विजय प्राप्त करके योग कमाता है। भोगी भोगों की कीमत को क्या जाने ! वह तो उनका दास बन कर अपना भुगतान भोगों के द्वारा करवाता रहता है।

सच जानना, भोगों का आनन्द तो योगी ही ले सकता है न कि भोगी। रथ पर बैठने का आनन्द भला घोड़ों को कैसे मिले, वह तो रथ के कारण दुःखी हैं। रथ का सच्चा आनन्द तो रथ पर सवार हुआ व्यक्ति ही ले सकता है। इसी तरह से भोगों का आनन्द भोगी, जो भोगों का दास है, क्या जाने। भोगों का आनन्द तो योगी ही लेता है, जो भोगों पर सवार है। भोगों पर सवारी करके, अर्थात् भोगों को अपने अधीन रखकर चलने वाला ही

सुखी है। बाकी तो भोग रूपी चक्की में पिसकर अपना जीवन-धन लुटा रहे है। भोगों के कारण शरीर ही रोगी नही बनता, बल्कि बुद्धि भी रोगी बन जाती है। भोगी भोगों को अपना जीवन देता है, और योगी भोगों से जीवन का अनुभव प्राप्त करता है। *शरीर साधन-सम्पन्न एक महान् यंत्र-*युक्त वायुयान है, जोकि अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर, भोगों से दूर रहकर चले तो क्या कुछ नहीं कर सकता। जबकि वह भोग प्राप्ति में ही शरीर और बुद्धि को लगाकर कुछ भी नहीं कर सकता। अन्त में भोगों का मारा मृत्यु की दशा को प्राप्त होकर जीवन का अन्त ही कर देता है।

आज का भोग-लिप्त मानव किस उन्नति के साथ क्षय की ओर कितनी तेजी से चला जा रहा है। वह इस दुर्लभ मानव-जीवन और शरीर को केवल भोगों के ही लिए समझ रहा है। वह यह नहीं जानता कि जिस प्रकार से सुन्दर स्वस्थ बकरे को मांसाहारी लोग बड़ी रुचि के साथ भोजन में भोग लगाते है, उसी प्रकार से मनुष्याहारी भोग भी मानव-शरीरों का रुचि-पूर्वक भोग लगा रहा

है। परन्तु कितने अचम्भे व आश्चर्य की बात है कि हम लोग मनुष्य होकर भी अपना आहार करने वाले भोगों को न पहचान कर स्वयं उनकी ओर भागे जा रहे हैं जबकि बकरा पशु होकर भी अपने को नष्ट करने वाले कातिल को दूर से ही पहचान-कर उससे दूर भाग जाता है। जिस तरह से पतंगा अपने काल दीपक को अपना काल न समझ कर बल्कि अपने मन को बहलाने वाला खिलौना समझ कर, उस ओर बड़ी खुशी से जाकर अपने जीवन को समाप्त कर देता है, उसी तरह इन्सान भी भोगों को अपना काल न समझ कर, अपना सुख-साधन समझ अपने जीवन को नष्ट कर रहे हैं। भोग क्षयप्रद मृत्यु है, बन्धन है। संसार भोग-योग दुःख, अशान्ति और बन्धन है। आत्म-योग अक्षय-प्रद, परमानन्द, परम शान्ति, सर्वदा मुक्तियुक्त है।

प्रिय मानव ! आप यह क्यों नहीं सोचते कि भोगों के लिए आप अपने शरीर को क्षीण, जीर्ण, बना रहे हो। यह भोग जो अब सुख कर हैं, शरीर के क्षीण होते ही दुःख के कारण बन जायेंगे। फिर आपके सामने सब भोग होंगे और

आपको आपकी दुर्बलता पर लज्जित कर आपके भोगयुक्त अभिमान को चूर्ण कर देंगे। आपके शरीर के शक्तिहीन होते ही यह भोग आपको ललकारेंगे"और कहेंगे: हे भोगों को भोगने वाले अभिमानी आ! अब क्यों नही आता। भोग हमें। अज्ञानी मानव! हमें भोगने की इच्छा रखने वाले! देख अपनी दशा। तुमने हमें भोगा या हमने तुमको भोगा। प्यारे इन्सान हम भोग तो सदैव से ही नवीन रहे हैं, और तेरे जैसे लाखों आये और अपना अभिमान चूर्ण कर स्वयं को मिटाकर चले गये। परम्परा से चले आ रहे हमारे स्वभाव को तुमने अब तक क्यों नही पहचाना? तुम्हारे ही घर में, तुम्हारे ही अपने लाखों ने हम भोगों को अपना कर, जो कुछ पाया वह सब तुमने देखकर भी क्यों भुलाया। हे इन्सान! अब भी सम्भल जा और अपने मानव जीवन को व उसकी अद्वितीय शक्ति को संसार के दुःखमय भोगों में न लगाकर, इसे शुभ मार्ग में लगा। अपनी मानवी शक्ति से अपना व संसार का कल्याण कर। इस शक्ति से जीवों की

रक्षा कर। दूसरों को सुखी बना। दूसरों को शान्ति देकर खुद सुख-शान्ति को प्राप्त हो जा।

वंदना

विश्व-शांति सन्देश

'हे दयानिधि ! 'आ एक वार आ' और देख, अपने ससार की महान् दुर्दशा। देख 'रोटी के गुलाम' अपने इन्सान को, जो अपने स्वार्थ के कारण किस तरह एक दूसरे के साथ अमानवता का व्यवहार कर रहा है। 'तुझ' एक ही पिता की सन्तान होकर भी किस प्रकार अपने सुख के कारण एक दूसरे को मिटा देने मे अपनी महानता समझ रहे है। तेरा मानव-समाज, आज किस प्रकार 'मानवता' की होली खेल रहा है। यह मानव-समाज यह क्यो नही समझता कि हम सब एक ही परम पिता की सन्तान है। यह समस्त पृथ्वी हमारे एक ही परम-पिता परमात्मा की निधि है। इसका उपभोग करने का सबको समानता का अधिकार है। यह सब न समझकर मनुष्य आज पशु-भाव को प्राप्त होकर, किस तरह भाई-भाई के गले को घोट कर अपने सुख-साज को बनाने मे लगा हुआ है। देख

अपनी दुनिया के हिंसक मनुष्यों का हाल, जो दीन दुखियों के दुख पर, दुःख प्रकट न करके, दूर से हंसी उड़ा रहे हैं। कह रहा है, मरने दो, रहने दो इनको इनके हाल में, यह पापी हैं, इन्हें यही सजा होनी चाहिये। यहां तेरे संसार में एक ओर 'आर्त नाद' तो दूसरी ओर 'खुशियों के गीत'। एक ओर 'झोंपड़ियों की गरीबी' तो दूसरी ओर 'क्लबों की रौनक'। एक ओर 'रोटी की भूख' का सवाल तो दूसरी ओर 'मनोरंजन में धन का नाश'।

भगवान्! वह दिन कब आयेगा जब तेरा इन्सान घृणा, द्वेष, की दृष्टि छोड़कर आपस में 'प्रेमभरी' दृष्टि से एक दूसरे को देखेगा। मालिक! किस तरह तूने अपने मनुष्य को संसार का सुख सौंपा था। यह जानकर कि मेरे पुत्र इन्सान, आपसी भेद-भाव में न पड़कर, सब आपस में मिलकर, इस का उपयोग करके अपने जीवन को सुखी बनायेंगे।

देखो भगवन्! यहां क्या हो रहा है? हे जगत के माली! अपनी इस संसार-फुलवारी में आकर देख तो सही, किस प्रकार तेरे बाग के ये बड़े फूल छोटे फूलों को, फूलों की कलियों को मसल कर

नष्ट कर रहे हैं। देख हे इन्सानों के मालिक ! जरा अपने इन्सान को देख ! आज तेरा मानव अहंकार में तुझको भी भूल गया है। तेरे बनाये नियमों का भी उल्लंघन कर रहा है। भगवन् तू देखकर भी चुप क्यों है ? इन्हें 'बुद्धि दे', 'शक्ति दे' ताकि सब मिलकर आपस में प्रेम का बर्ताव करके एक दूसरे के दु.ख में हाथ बटायें और मानवता का व्यवहार करके अपने जीवन को शान्तिमय बनायें। परन्तु यह सब यहां कहां। यहां तो काले गोरे से, धनवान गरीब से, शक्तिमान शक्तिहीन से, विद्वान मूर्ख से, घृणा कर एक दूसरे से होड़ लगाकर मानवता का नाश कर रहे हैं।

भगवन् ! तेरा मनुष्य, यह क्यों नही विचार करता कि देशों व प्रदेशों की जलवायु भिन्न-भिन्न होने से शरीर में, रंग में, खान-पान व रहन-सहन में भिन्नता है, न कि मानवता में भिन्नता होगी। स्वभाव भी एक दूसरे से भिन्न प्रकृति की परिवर्तनशीलता के कारण हो सकते हैं। काश ! संसार के मनुष्य शरीर-भाव के साथ-साथ आत्म-बोध के भी ज्ञाता होते ! तब यह सब उनकी समझ में आता

कि सब शरीरों में शक्ति-प्रदान करने वाला, वही एक परम पिता परमात्मा है, जिसकी ज्योति से सब शरीर कर्म कर रहे हैं। यह सब तो अध्यात्म विषय के ज्ञाता होने पर ही होता और तब संसार के सब भेदभाव मिट सकते थे। तब हम सब भेद-भाव के शिकार होने वाले प्राणी सुखपूर्वक जीवन विताते हुए निर्भयता से रहते।

आज का इन्सान अपने स्वार्थों को पूर्ण करने में किस तरह नाना प्रकार के गुट और दलों में बंट कर अपनी मानव-शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है। आज संसार में कोई साम्यवाद तो कोई साम्राज्य-वाद का नारा लगाकर आपस में फूट के बीज वो रहा है। कितना सुन्दर होता यदि हम सब मिलकर आपस में विचारकर फूट पैदा करने वाले नारों को छोड़कर, आपसी प्रेम को बढ़ाने वाले 'ईश्वरवाद' के नारे लगाते और संसार को भय से मुक्त करते। भगवान ने संसार के लोगों को आनन्दमय या सुख-मय जीवन विताने के लिए जिन नियमों का आधार बनाया था, उन पर चलते तो सर्वत्र सुख ही सुख हो जाता। आज हम ईश्वरीय नियमों को त्याग

कर, मनमाने नियम बनाकर ही दु.खी हो रहे हैं। सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, सरलता, नम्रता, सन्तोष और सुन्दर विचार, ये थे ईश्वरीय नियम; जिन पर चलकर समस्त संसार निर्भयतापूर्वक अपने जीवन को बिता सकता था। इन नियमों पर चलकर हमें कानून, दण्ड, हिंसा की वृत्ति भी न अपनानी पड़ती तथा न्यायालयों की व झूठी गवाहियों की भी जरूरत न होती।

भगवान ! तेरा इन्सान खान-पान में, रहन-सहन में, आपसी मिलन में भी भेद-भाव डाले हुए है। नमकीन खानेवाला मीठा खानेवाले से वैर करके एक-दूसरे से दूर हो रहा है। क्या बतलाऊं ! यही नहीं, अपनी हिंसक वृत्ति के कारण गांव-गांव से, प्रदेश दूसरे प्रदेशों से, मुल्क दूसरे मुल्कों से आपसी तनाव के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो रहे है। लोग यह क्यों नही सोचते कि जिस तरह शरीर में भिन्न-भिन्न हिस्से हैं, पर है सब एक ही शरीर के अंग। उसी तरह यह अलग-अलग भागों में स्थित हिस्से एक ही विश्व के सब अपने ही अंग है। जिस तरह शरीर में स्थित अलग-अलग हिस्से सब शरीर

की ही रक्षा के लिये हैं। उसी तरह विश्व के अलग-अलग भागों में स्थित मुल्क भी सब विश्व की ही रक्षा के लिये हैं! हम सब को चारों तरफ से मिलकर विश्व की रक्षा करनी चाहिये थी। न कि इसका अहित करना था। आज तो संसार में वही मिसाल हो रही है कि 'बाड़ खेत को खाय'। जिनको मिलकर विश्व की रक्षा करनी थी, वही संसार को नष्ट करने में लगे हुए हैं।

आज के मानव और उनके विज्ञान के चमत्कार संसार को भयभीत बना रहे हैं। भगवन्! तेरा इन्सान कह रहा है, हमारा विज्ञान विश्व-शान्ति के लिए है। पर यह कहां तक सत्य है, यह तो विश्व के भयभीत लोगों से पूछिये; जो मानव-विज्ञान से चिंतित हैं। जो इस अणु-विज्ञान में 'मानव-विनाश' देख रहे हैं, उनसे पूछिये कि आज का मानव-विज्ञान शान्तिदायक है या भयदायक। किस तरह इस विज्ञान ने मनुष्य को अहंकारी बना दिया है। एक देश दूसरे देश से तनाव में पड़कर अशान्त हो रहा है। यह है 'मानव का विश्व-शान्ति विज्ञान'!! बाहरी दिखावट के लिए शान्ति का नारा और

अन्दर से स्वयं भयभीत होकर गुप्त रूप से अपनी-अपनी तैयारियों में लगे हुए हैं।

भगवान् ! तेरे ये भोले-भाले मानव यह क्यों नहीं समझ रहे है, कि विज्ञान से तुम्हें संसार को जला देने वाली आग को पैदा करना था, या शान्ति देने वाला साधन बनाना था ; जिससे कि विश्व निर्भयतापूर्वक रह सकता। ये लोग यह क्यों नही सोचते कि अपने घर में रखी आग से तो एक दिन अपने घर को भी खतरा हो सकता है। आज समस्त समृद्ध देश उस धन को जिससे विश्व का कल्याण करना था, उसे उस विज्ञान पर खर्च कर रहे हैं, जिससे विश्व का अनिष्ट हो रहा है। इस धन को को वह विनाशकारी विज्ञान में लगा रहे हैं, जिससे विश्व का व विश्व के लोगों का दुःख दूर कर सकते थे। पर यह सब इन्हें समझाये कौन ? आज किस तरह बड़ी शक्ति, छोटी शक्ति को नष्ट करने में लगी हुई है। आज बड़े देश छोटे देश पर किस तरह अपना अधिकार जमाये बैठा है। क्या इसी को साम्यवाद या साम्राज्यवाद कहते है ?

क्या ही सुन्दर होता ! अगर ये वैज्ञानिक लोग

व विज्ञान-निपुण देश अपने विज्ञान से दूसरों का दुःख तथा भय दूर करते। अपनी बुद्धि-विज्ञान शक्ति से दूसरों को शक्ति देते। विश्व शान्ति में मदद करते।

भगवान ! इन पर दया करो और इन्हें वह बुद्धि दो ताकि ये 'विश्व-शान्ति' का रास्ता समझें और द्वेषी-बुद्धि को बदल कर प्रेम-बुद्धि प्राप्त करें।

कहां गये विश्व-शान्ति के परम दूत राम, कृष्ण, नानक, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, गांधी, जिन्होंने विश्व को शान्ति का मार्ग बतलाकर विश्व में शान्ति की बेलें फैलाईं थीं। अब उनकी वही बेलें सूख रही हैं, सींचनेवाले उनके अनुयायी 'माली' स्वयं द्वेष की आग में झुलस रहे हैं। अब कहां हैं वे महापुरुष ! जिन्होंने आपसी द्वेष और घृणा को मिटाकर एक दूसरे को गले लगाया और मिलाया था। अब तो उन्हीं की सन्तान, उन्हीं के अनुयायी, उनके नाम पर देश व विश्व में अशान्ति, द्वेष, द्रोह, अराजकता और अमानवता का प्रचार कर अपने महापुरुषों को भी कलंकित कर रहे हैं। जिन महापुरुषों ने समस्त संसार को सम दृष्टि

से देखा था। आपस के भेद-भाव रूपी खाइयो को भर कर आपस मे प्रेम का पाठ पढाया था। आदर्श और चरित्र को अपनाकर, दूसरो को उसका महत्व वतलाया था। हम हैं उनके भक्त जो उन्ही के नाम पर मिथ्या ग्रथ और पथ वनाकर मिटने को तैयार है।

भगवन्! एक वार फिर उन्हे ससार मे भेजो। ताकि देख ले वह आकर अपने वताये मार्गो का स्वाग! और यह जान सके कि किस प्रकार उनके पढाये पाठ को उनकी सन्ताने गलत अर्थ लगाकर पढ रहे हैं।

हे जगत के पालनहार! देखो, जिन भोगो को महापुरुषो ने रोग समझकर त्याग दिया था। जिन विपयो को विप समझकर छोड दिया था, उन्ही को किस प्रकार तेरा यह मानव पान करके रोगी और जहरीला वन गया है। आज किस तरह तेरा मानव-समाज भोगो मे आसक्त होकर पशु की तरह अपने दुर्लभ मानव-जीवन का विनाश कर रहा है। आओ! इन्हे रोको! इन्हे समझाओ! ताकि यह समझ सकें कि भोगो मे रोग और विपयो

में विप किस प्रकार छिपा हुआ है। इस मानव जगत को समझाओ कि मानव, जिस विज्ञान से तू जो कुछ करना चाहता है, वह एक दिन तेरे लिये दुःख, ग्लानि और अशांति का कारण बन सकता है।

प्रभु ईसा, मुहम्मद, राम, कृष्ण, बुद्ध, नानक आकर देखो अपने संसार की हालत जो आज अभिमान में भर कर कहता है—'कहां हैं भगवान्? अगर हैं तो दिखाओ। वह दिखाई क्यों नहीं देता? अब मैं कैसे समझाऊं इनको कि ऐ इन्सान तेरा 'मन-रूपी-दर्पण' इतना गन्दा हो चुका है कि तुझे नजर आ ही नहीं सकता। तेरे मन-दर्पण पर पाप रूपी चादर (पर्दा) पड़ी हुई है। 'उसे उठा' और कर दर्शन। अपने प्यारे का जो तुझे गुप्त रूप से शक्ति दे रहा है। अपने उस प्यारे से मिलकर तू खुशहाल हो जायेगा। अपने हृदय को शुद्धकर, अपने मन के मैल को धो डाल, अपने अहंकार को मिटा दे, तब तुझे 'तेरे दिलदार यार', प्यारे का दर्शन होगा।

क्या करूं प्रभुवर? तेरा यह दास इन लोगों को कैसे समझाये? यह मेरी भापा समझते ही

कव हैं। इतना सावुन् कहा से, लाऊं कि इनके 'मन रूपी दर्पण' पर लगे अहकार रूपी मैल को, द्वैतरूपी पर्दे को धो सकू । इनके मैल को धोने मे तो भगवान्! तू ही सामर्थवान है। तेरा और विश्व का सेवक तो इन्हे समझा-समझा कर थक चुका है। ये तो मुझ पर ही कीचड फेक रहे हैं। खैर इसकी तो मुझे रत्ती भर भी चिन्ता नही है। अगर ये लोग मुझ पर कीचड डालकर भी समझ सकें तो मैं यह सब प्रसन्नतापूर्वक धारण करने को तैयार हू। मुझे तो चिन्ता इस वात की है कि कही अत्यन्त भोग और विपयो के कारण ये रोगी न वन जायें। मुझे डर है तो केवल इस वात का कि कही मेरे ये विश्व के लोग विप के कारण विपैले न वन जाये।

वोलो न दाता! क्या न सुनोगे मेरी पुकार! न करोगे ये मेरी इच्छापूर्ण? हरो न अपने जनो का दु ख। दो न इन्हे वह बुद्धि, जो आप कृपालु होकर अपने भक्तो को देते हो। भगवन् नही तो मुझे ही शक्ति दो कि मै इनके दु ख मे अपने प्राणो की वलि चढाकर इन्हे सच्चे मार्ग का ध्यान करा

सकूं।

भगवन् ! ये सब निर्दोष हैं। मैं ही इन सबके दोषों का कारण हूं। मेरा ही अभाग्य है जो मैं इन्हें रास्ता न दिखा सका। इनके बदले मुझे ही सजा दो। इसमें इनका कोई दोष नहीं है। मुझ पर इनके दुःख-सुख की जिम्मेदारी थी। मैं मनुष्य था। मैंने मनुष्य होकर भी मानव-हित में कुछ भी नहीं किया। ये कुसंग के शिकार, निर्दोष हैं। मेरा अगर कोई पुण्य है, तो इन्हें दे दो। मुझे इनकी जगह, दुःख कारागार में डाल दो। मैं आपकी कृपा से इन्हें सहन कर लूंगा। ये जो तुम्हें भूलकर अहंकारी बन गये हैं इन्हें बचालो। भगवन् ! इनसे दुःख सहा न जायेगा। मुझ से दुःखियों की 'आर्त-पुकार' सुनी न जायेगी। मुझ से किसी की दयनीय दशा देखी न जायेगी। भगवान् ! मुझे शक्ति दो कि यह सब मैं इन्हें समझा सकूं।

भगवान् ? आप तो जानते ही हो संसार क्यों दुःखी है। तेरा मानव मर्यादा से भ्रष्ट हो चुका है। चरित्रहीनता का विश्व में साम्राज्य छाया हुआ है। सत्य, न्याय, अहिंसा, प्रेम को लोग भूल चुके हैं। भोगों

के लोग दास हो चुके हैं। पतंगे की तरह दीपक की रोशनी को आग न समझकर उसे आनन्द की चीज सकझकर, उसी ओर जाकर अपने को नष्ट कर रहा है। उसी तरह तेरा मानव भी भोगों में सच्ची प्रीति करके उसे रोग नहीं समझ रहा है। अपनी मानवीय-शक्ति को भोगों में नष्ट कर रहा है। परिवर्तनशील सुखों में 'चिरसुख' की आशा ही इनके दु:ख का कारण बना हुआ है। सच्चा सुख का देनेवाला 'आत्म-बोध' से संसार दूर हो चुका है। काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार जैसे दुष्ट सेनाओं से घिरा हुआ है। जो उसे भुलावा देकर 'पतन' की ओर ले जा रहा है। बचालो भगवान् ! अपने संसार को, पतन की ओर से।

'मैं क्या चाहता हूं ?'

भगवान् ! मैं क्या चाहता हूँ ? वह तुम दे न सकोगे। सुनाऊँ अपने हृदय की बात। मैं चाहता हूं मेरा विश्व और मेरे विश्व के लोग सुख शान्ति पूर्वक अपने जीवन-ध्येय को प्राप्त करें। मेरे विश्व-वासी लोग अपनी शुद्ध संस्कृति को अपना कर मानवीय शक्ति का संगठन करें। सब सत्य, न्याय, अहिंसा, प्रेम, दया, क्षमा, नम्रता, शीलता और सरलता का

आपस में व्यवहार करें। विश्व के लोग मानव समाज के एक सूत्र में बंधकर मानव-जीवन की उन्नति करें। विश्वभर में आदर्श और चरित्र का सम्मान हो। मैं चाहता हूं विश्व में आदर्श, चरित्र, सत्य, न्याय, अहिंसा के भाव को समझनेवाली सन्तानों को जन्म देने वाले माता और पिता हों। विश्वविद्यालयों में 'अध्यात्म बोध' का भी अध्ययन। विश्ववासियों के हृदय से आपसी मत-भेद, द्वेष, घृणा, हिंसा का अभाव हो। सब लोग एक दूसरे को मानवीय-सन्तान समझकर आपस में मानवता का व्यवहार करें। सबको अपने ही परिवार का अंग समझकर एक दूसरे के हित का विचार रखें।

भगवन्! यह है मेरी कामना इसे पूर्ण कर दो।

कुछ विचारणीय बातें

यानें

मानव-जीवन में अपनाने योग्य

सुख-पुंज-संग्रह

मानव धर्म क्या है :—मानवता के कर्त्तव्यो का पालन। धर्मशास्त्रनिहित नियमो का पालन। महापुरुषो द्वारा बताए कर्तव्यो का अनुकरण। मानव-जाति रक्षा के नियमो की रक्षा। अपने स्वार्थ का त्याग और परस्वार्थ मे रत होना। सत्य, न्याय, अहिंसा दया, क्षमा, शौच, इन्द्रिय निग्रह, नम्रता, सरलता, सन्तोष, समता, और विचारवान बनकर इन नियमो का मन, कर्म, वचन, द्वारा पालन करना, सब जीवो के प्रति दया, क्षमा और समता का व्यहवार तथा जीवो के प्रति श्रद्धा पूर्वक की गई सेवा और आत्मीय भाव।

मर्यादा क्या है :—मानव-धर्म के उन नियमो का पालन जिसमे मानव हित की सुख भावनाये छिपी हुई हो। मर्यादा वह क्षेत्र है, जिसके अन्दर रह कर मनुष्य सुख शान्ति पूर्वक जीवित रह सके। मर्यादा वह दीवार है, जिसके अन्दर रह कर मनुष्य स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन का सुख ले सके, और जिसके

बाहर जाकर मनुष्य दुःख, ग्लानि, चिन्ता और परतंत्रता की बेड़ियों में उलझ जाये।

स्वार्थ के त्याग से लाभ:—स्वार्थ के त्याग से मनुष्य को परम सुख-शान्ति का अनुभव प्राप्त होता है। स्वार्थ के त्यागते ही स्वयं को और दूसरों को जीवन का यथार्थ लाभ प्राप्त होता है। स्वार्थ का त्याग करते ही मनुष्य के अन्दर निवास करने वाले महान शत्रुओं काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का नाश हो जाता है। स्वार्थ जीवन को प्राकृतिक बन्धनों में बांध देता है। स्वार्थ से ही बुद्धि भ्रमित हो जाती है। स्वार्थ के कारण ही मनुष्य मर्यादा व अमर्यादा को भूलकर कर्तव्य भ्रष्ट भी हो जाता है। स्वार्थ मानव का महान शत्रु है। स्वार्थ से मनुष्य का वास्तविक सुख-चैन नष्ट हो जाता है। स्वार्थ के रहते मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। मन अशान्ति का मूल कारण है।

पाप क्या है:—जो कार्य दूसरों की नजर से बचाकर किया जाय या पर्दा डालकर किया जाय वह पाप है। किसी को मन, कर्म, वचन से किसी प्रकार का भी दुःख मानसिक या शारीरिक पहुंचाना ही पाप

है। मानव-जीवन के अनहितकारी कार्य सभी पाप हैं।

पाप वह भय है जो मनुष्य को दु खकारक मार्गो व कर्मो से बचाता हे। वास्तव मे पाप हमारी 'दोष-युक्त' दृष्टि हे। ससार को जिस दृष्टि से देखो वैसा ही दृष्टिगोचर होता है । निर्दोष दृष्टि के कारण पाप भी पुण्य वन जाते हैं । दोष युक्त दृष्टि और विचार ही पाप है।

पाप से बचने का उपाय —स्वार्थ का त्याग। लोभ का मन, कर्म और वचन से परित्याग। अपने जीवन व चरित्र को किताब के खुले पन्ने की तरह बनालो । कोई भी कार्य पर्दे मे या दूसरो की नजर बचाकर मत करो। मन, कर्म और वचन से दूसरो के हित का ही ध्यान रखो। धर्म के नियमो का विधिवत पालन करो। काम, क्रोध, मद, लोभ और अहंकार से सर्वथा मुक्त होने के उपाय करते रहो। सत्य वस्तु का ही आश्रय लो, असत्य का परित्याग करो। दूसरो के दु ख को अपना दु ख और दूसरो के सुख को ही अपना सुख समझो। अपने विचार व दृष्टि को शुद्ध रखो। इस प्रकार सर्वत्र निष्पाप ही कार्य

होंगे।

असत्य से हानि क्यों :—असत्य से मानव की शक्ति क्षीण होती है। असत्य नाम उसका है जो है ही नहीं। जो है ही नहीं उस पर अपनी मानव-शक्ति को क्षीण करना फलहीन है। असत्य से मनुष्य की वुद्धि भ्रमित हो जाती है। असत्य से विवेक शक्ति का नाश होता है। असत्य से कर्म हीनता छा जाती है। असत्य एक अन्धकार है। जैसे अंधेरे में मनुष्य भटक जाता है या राह से बेराह हो जाता है। उसी प्रकार से असत्य में लगा मनुष्य का जीवन अंधकार-मय बन जाता है। और वह अपने ध्येय से गिरकर पतितता, दीनता, हीनता को प्राप्त हो जाता है।

झूठ बोलने से हानि :—झूठ बोलने से वाणी का दुरुपयोग होता है। और वाणी दुरुपयोग से वाणी की शक्ति नष्ट हो जाती हैं। झूठ से सम्मान, आदर, संसार-व्यवहार और व्यापार सब नष्ट हो जाते हैं। झूठ से वाणी की सरलता, नम्रता, उदारता और माधुर्यता पर पानी फिर जाता है। झूठ से मनुष्य को मित्र, परिवार, वन्धु-वान्धव व समाज से अना-दर भाव मिलता है। झूठ से मन की शान्ति नष्ट हो

जाती है। झूठ मानव-जीवन के उन्नति मार्ग में एक दीवार है। झूठ का व्यवहार सर्वत्र असत्यमय सृष्टि की रचना करता है।

क्रोध से हानि :—क्रोध अग्नि के समान जलादेने वाली शक्ति रखता है। जिस प्रकार अग्नि कच्चा-पक्का, अच्छा-बुरा, पवित्र-अपवित्र कुछ भी न देखकर सबको जला देती है; उसी प्रकार से क्रोध मनुष्य के विचार व विवेक शक्ति को नष्टकर देती है। क्रोध में मनुष्य को हित-अनहित, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, ऊँच-नीच का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। क्योंकि क्रोध का जहरीला असर मनुष्य के मन और बुद्धि पर पड़ता है। क्रोध से मर्यादा व मानवता को कलंक लगता है। क्रोध से शरीर को भी हानि पहुंचती है। क्रोध से शरीर का रक्त भी क्षीण हो जाता है। क्रोध मनुष्य का परम शत्रु है। इस पर विचार, सन्तोष और क्षमा से विजय प्राप्त कर।

मोह से हानि :—मोह नाम, अंधकार और अज्ञान का है। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में राह का पता नहीं लगता उसी प्रकार से 'मोह प्राप्त' मनुष्य को भी अपने जीवन ध्येय का पता नहीं रहता है।

मोह से ही मनुष्य कर्तव्य विमुख होकर 'पथ-भ्रष्ट' हो जाता है। मोह अन्धकार है। इस पर विजय केवल 'ज्ञान-प्रकाश' से ही प्राप्त हो सकता है। मोह नाम 'रात्रि' का और ज्ञान नाम 'प्रकाश' का है।

लोभ से हानि :—लोभ ही सब अनर्थकारी दुःख रूपी वृक्ष का मूल बीज है। लोभ से मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट होकर अकर्त्तव्य में लग जाती है। मनुष्य के दुःख का कारण ही लोभ है। जिस प्रकार से सूर्य को 'ग्रहण' लगकर, उसके तेज प्रकाश को समाप्त कर देता है (ढक देता है); उसी प्रकार से मानव शक्ति के तेज प्रकाश को लोभ ढक देता है। लोभ से समाज में भी अपमान मिलता है। देश, जाति व समाज की सेवा लोभी नहीं कर सकता। लोभ से यश, कीर्ति, प्रशंसा भी समाप्त हो जाती है। लोभ पर विजय, समानता, सन्तोष और वैराग से होती है। जगत बन्धन का मूल-वृक्ष लोभ है।

अहंकार से हानि :—अहंकार मनुष्य जीवन की उन्नति में महान अनिष्ट कारक तत्त्व है। जिस प्रकार लोहे पर जंग लगजाने से वह धीरे-धीरे व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य के लिए जंग के रूप में

अहंकार है। अहंकार से मनुष्य के सभी सुन्दर गुणों पर मलीनता छा जाती है। जिस प्रकार आकाश की निर्मलता को बादल ढक लेते है, उसी प्रकार मनुष्य-बुद्धि की निर्मलता अहंकार से ढंक जाती है। अहं-कारी मनुष्य सबका द्वेषी, अप्रिय, अहितकारी बन जाता है। अहंकार मनुष्य के पतन की निशानी है। अहंकार, जहर से तथा मृत्यु से भी भयंकर है। अहं-कारी मनुष्य का कोई भी साथी नहीं है। अहकारी मनुष्य सत्य-पथ से सदा दूर रहता है। सर्व अनहित-कारी कर्मो की ओर लगानेवाला केवल एक अहंकार है। मनुष्य प्रकृति के सब गुण, अवगुण व तत्वों पर विजय प्राप्त कर सकता है। लेकिन मनुष्य के अन्दर के अहंकार को निकाल फेकना मनुष्य की महान सफलता है। अहंकारी मनुष्य निर्दोष होता हुआ भी दोषी है। अहंकार से न जाने कब उसके अन्दर के अनर्थकारी विचार उत्पन्न हो जायें। अहंकार पर विजय, सत्य, न्याय, अहिंसा, विचार, सन्तोष तथा सत्संग के आधार पर चलने से हो सकता है। अहंकार से मनुष्य की शक्ति, धीरज, धर्म, न्याय और शुद्ध विचारों का नाश हो जाता है। अहंकार ही जीव का

विनाश है। अहंकार से बुद्धि व विवेकशक्ति क्षीण हो जाती है।

मनुष्य के परम मित्र कौन हैं ?:—सत्य, न्याय, अहिंसा, क्षमा, दया, शौच, धैर्य, सन्तोष, समता, नम्रता, शील, इन्द्रियनिग्रह और विचार। इन सुन्दर साथियों का साथ ही सच्चा साथ है। जो देश-विदेश, दुःख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, विजय-हार, व्यवहार और व्यापार में भी मनुष्य का साथ नहीं छोड़ते।

इन सुन्दर गुणों की उपासना ही धर्म और ईश्वर की उपासना है। इसका उपासक दीनता, हीनता, अशान्ति, ग्लानि और मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। विचारवान मनुष्य ही इन सुन्दर साथियों को अपना सच्चा मित्र समझकर इन्हें अपनाए रहते हैं। मनुष्य का सच्चा धन-वैभव भी यही है।

सच्चा लाभ क्या है ?:—स्वयं का बोध हो जाना। अपने 'कर्तव्य' पर आरूढ़ होकर 'सत्पथ' पर चलकर मानवता प्राप्त करना ही सच्चा लाभ है। प्राकृतिक दुःख-सुख, गुण-अवगुण पर विजय प्राप्त करना, प्राकृतिक बन्धनों से मुक्त होना ही सच्चा लाभ है।

जीवन का ध्येय क्या हो?:—सत्य वस्तु की खोज और प्राप्ति। प्राकृतिक सुख-दुःख पर विजय प्राप्त करना। मानवता के लक्षणों से युक्त होकर जीवित रहना। आत्मानन्द के आनन्द को प्राप्त होना। संसार के सब जीवों की सेवा करके उनका स्नेही बना रहना। जीवों का अधिक से अधिक स्नेह प्राप्त करना। अपने स्वार्थ का त्याग और परस्वार्थ में लीन रहना। सबका दु ख-सुख अपना सुख-दु ख समझना। मनुष्य-जीवन की कीमत समझना। समय का और शरीर का सदुपयोग करना।

मानव शरीर क्या है?:—संसार के सभी जीवों में मानव शरीर श्रेष्ठ और अद्वितीय है। यह एक कल्पवृक्ष है जिस प्रकार कल्प-तरु सभी कामनाओं की पूर्ति करता है। उसी प्रकार से मानव शरीर के द्वारा साधन करता हुआ मनुष्य सभी कामनाओं के साथ-साथ दुर्लभ को सुलभ और अप्राप्त को भी प्राप्त कर लेता है। यही नहीं अगर मनुष्य चाहे तो इस साधन सम्पन्न शरीर के द्वारा मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। यह मनुष्य शरीर एक काम धेनू है। अगर इसका और इस शरीर यंत्रों का सही

उपयोग किया जाय तो इस शरीर द्वारा कोई क्या नहीं कर सकता ? यह शरीर भगवान का मन्दिर है। इसके अन्दर बैठकर भगवान 'आत्मदेव' का दर्शन भी पा सकता है। मानव शरीर महान पवित्र है, लेकिन पवित्र कर्म और विचारों से ही इसकी पवित्रता स्थिर रहती है। मानव भगवान की वह शक्ति है जो इस शरीर के द्वारा साधन बनाता हुआ भगवान के सदृश्य ही प्रकाशवान बन जाता है।

हमें करना क्या चाहिये?:—मानवता प्राप्ति के लिये साधन। मानव-धर्म का अनुसरण, मानव-धर्म रक्षा के लिये यत्न पूर्वक साधन। मानव-शरीर की पवित्रता का ध्यान। मानव-धर्म नियमों का पालन। सत्य, न्याय, अहिंसा, क्षमा, दया, त्याग, शौच, इन्द्रिय निग्रह, समता, सन्तोष, विचार, धैर्य, स्वार्थ का त्याग, पुरुषार्थ और वैराग का पालन व अनुसरण करना।

भजन किसको कहते हैं?:—भजन, नाम भजने का बयाद करने का है। अपने ध्येय को लक्ष्य में रखकर ध्येय की ओर हर वक्त ध्यान रखते हुए जाना और ध्येय प्राप्ति के लिये कर्तव्य करते रहना, भजन कहलाता है। मनुष्य का ध्येय है; सत्य की प्राप्ति।

सत्य वस्तु केवल आत्मा है। आत्मा का नित ध्यान रखते हुये, आत्मीय भाव से कर्तव्य करते हुए, जीवन पवित्रता का विचार करते जाने का नाम भजन है। सत्य हमारा ध्येय हो, सत्य हमारा कर्तव्य हो, सत्य ही हमारा विचार हो, यही मानव का सच्चा भजन है।

सत्संग किसको कहते हैं ?—सत्सग का अर्थ है सत्य का सग। जिस सग से मनुष्य बुराइयो से दूर होकर सत्यता को प्राप्त करता हो उसका नाम सत्सग है। सत्सग केवल सुनने व सुनाने की ही वस्तु नही है। न तो सत्सग किताबी कारवाइयो मे ही रखने तक की कोई वस्तु होनी चाहिये। सत्सग को जीवन मे क्रियात्मक व चरित्रार्थ रूप मे अपनाने से ही लाभ प्राप्त हो सकता है। सत्सग का अर्थ है सज्जन सग। सज्जनो का जहा पर समागम हो, सत्य की जहा पर चर्चा व खोज हो, वह सग 'सतसग' कहलाता है। जिस सग से हम अपने अन्दर की बुराइयो को निकालने मे समर्थ हो वह स्थान ही सत्सग या सज्जन सग का स्थान कहलाता है।

जीवन मे अपनाने व त्यागने योग्य क्या है?:—

मानवता का मार्ग, सज्जन संग, धर्म के लक्षण, मर्यादा का पालन, चरित्रता की शुद्धि का ध्यान, मन-वाणी की शुद्धता, कर्तव्य का पालन, सतबुद्धि, पुरुषार्थ, सत्य विचार, समता, सन्तोष, धैर्य, क्षमा, न्याय, सत्‌विद्या दीन-दुःखियों की सेवा, धर्म के लिये कष्ट सहन करना, वैराग्य और सत्संग यह अपनाने योग्य सुन्दर गुण व लक्षण हैं। और जो त्यागने योग्य हैं, वह हैं—कुमार्ग दुराचरण, दुष्टसंग, कर्तव्यहीनता, आलस्य, पुरुपार्थहीनता, चरित्र व धर्महीनता, असत्‌-कर्म व विचार, स्वार्थ, अहंकार, लोभ, मद, क्रोध, अमानुष्यता का व्यवहार, क्रूरता, निर्दयता, ऊंच-नीच के भाव, द्वेष, राग, दीनता, शरीर, मन, वाणी का दुरुपयोग।

सबसे पवित्र क्या है ?:–मन की शुद्धता।

सबसे बड़ा कौन है ?:–सेवक, जो दूसरों की सेवा करना ही अपना धर्म समझता है। सेवा करके भी, जो कुछ नहीं चाहता। अपना सुख भी जो दूसरे को सुखी बनाने में लगा देता है। जो दूसरों के लिये रोता और हंसता है। सेवा को ही जो अपना परम सुख और मित्र समझता है।

छोटा कौन है ?:—जो दीन, हीन, और याचक है। अपने स्वार्थ के लिये, वैभवयुक्त होकर भी जो तृष्णा की आग में झुलस रहा है। जो कर्तव्यहीन है। जो दूसरों से अपनी सेवा की आस लगाता है। सेवकों का जो अनादर करता है। अपने द्वार पर आये अतिथि का सत्कार नही करता। जिसको अपने धन पर अभिमान है। जो प्राकृतिक सुख भोगों का दास है। जिसको अपने शरीर, मन, वाणी पर अधिकार नहीं है। जो मन का दास है। जो आत्मीयता से दूर है।

पशु कौन है ?:—जो प्राकृतिक भोगों में लिप्त है। जो अपने जीवन ध्येय को भूला हुआ है। जो मानवता से हीन है। जिसको धर्म व चरित्रता के प्रति श्रद्धा नहीं है। जो द्वेषी, क्रोधी, लोभी, अहंकारी है। जो प्राकृतिक सुखों को ही सच्चा सुख समझता है। जिसे आत्म-बोध नही। जो पशुपाश से युक्त है। जो प्राकृतिक बन्धनों में बंधा हुआ है। जिसने मानव-जीवन को पशुपाश से मुक्त करने का उपाय नहीं किया। जो मानव-धर्म के लक्षणों से युक्त नहीं।

बन्धन क्या है ?:—संसार भोगों से आस, विषयों में वासना, चरित्र व धर्म हीनता, अकर्तव्यता, अमा-

नुष्यता, पुरुषार्थ हीनता, तत्व-बोध से शून्य, लोभ, अहंकार ही मूल कारण जगत बन्धन का है। अविद्या ही बन्धन है। सत् मार्ग पर चलने से, व ज्ञान-प्रकाश से ही बन्धन पर विजय प्राप्त होती है।

मुक्ति क्या है?:—अविद्या का नाश और विद्या का प्रकाश। पशुवत् कर्मों से निवृति, अज्ञानता का नाश हो जाना। चित् का आत्मा में लीन हो जाना। प्राकृतिक गुण-अवगुणों, दुःख-सुख से अनिच्छा, संसार कामनाओं से निवृति, स्वयं का बोध हो जाना ही मुक्ति कहलाती है। सत्-असत् का विवेक हो जाना ही मुक्ति पथ कहलाता है।

सच्चा सुख क्या है?:—आत्म बोध, स्वयं का ज्ञान, अविद्या रूपी व अज्ञानता रूपी रात्रि का नाश। काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार पर विजय प्राप्ति। सच्चरित्रता व धर्मप्रवृतिता, सत्यवस्तु का बोध, सत्-असत् का ज्ञान व ज्ञान-दीपिका का प्रकाश।

सच्चा व्यवहार क्या है ?:—आत्मियता, निस्वार्थता, निष्कामना, निर्लोभिता, निरअभिमानता, सरलता, माधुर्यता, निष्कपटता, दयालुता, सत्यता, विचारपूर्वक और न्यायसंगत किया व्यवहार ही

सच्चा और सुखकर है।

मानव-धर्म क्या है?:–मानव-धर्म, वह धर्म है जिसका पालन करने से मानव सुख-पूर्वक जीवन बिताता है। मानव धर्म से ही मानवहितो की रक्षा होती है। मानव-धर्म के लक्षणो से युक्त 'मनुष्य', मनुष्य न रहकर देवता बन जाता है। मानव-धर्म वह धर्म है जो मनुष्य को जीवित रहना सिखलाता है। मानव-धर्म, मानव-समाज को आपसी स्नेह, मिलन, निर्दोपिता, निष्कपटता, निर्वैरता, और सत्य, न्याय, अहिंसा का पाठ पढाता है। मानवता, आत्मीयता, चरित्रता, का क्या महत्व है, यह मानव-धर्म से ही मनुष्य सीखता है। यही नही मानव-धर्म के आधार पर चलने से ईश्वरीय (आत्मीय) बोध मनुष्य को प्राप्त हो जाता है। मानव-धर्म के नियमो का पालन करने से 'जीव' जीव न रहकर आत्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

धर्म का स्वरूप क्या है?:–धर्म नाम की कोई वस्तु स्थान, लोक, समाज व सम्प्रदाय नही है। धर्म का स्वरूप कुछ सुन्दर गुणो के समूह से बनता है। जिस प्रकार ने पाच तत्वो से शरीर का। ईंट, गारा, चूना,

सीमेंट पानी से मकान का। जड़, तना, टहनियों और पत्तों से वृक्ष का स्वरूप बनता है, उसी प्रकार से सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, क्षमा, शौच, धैर्य, इन्द्रियनिग्रह, सरलता, समता, सन्तोष और सत्-विचार, इन सब गुणों के मिश्रण से धर्म का स्वरूप बनता है। इनमें से किसी एक अंग की कमी से धर्म का पूर्ण स्वरूप नहीं बनता। जिन महापुरुषों व साधु पुरुषों में यह लक्षण क्रियात्मक व चरित्रार्थ रूप में पूर्ण रूप से पाये जाते हैं, वह धर्म के स्वरूप माने जाते हैं। उन्हें ही पूर्णरूप से धर्मात्मा कहा जा सकता है। इन्हीं सुन्दर गुणों को धारण करने से मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है। वास्तविक सुख इन्हीं धर्म के लक्षणों को धारण करने वाले मनुष्य ही प्राप्त कर पाते हैं। यह केवल पढ़ने, सुनने मात्र से ही अपना आनन्द मनुष्य को नहीं देता, बल्कि दिनचर्या से लेकर जीवन-पर्यन्त इनका तन, मन, धन से पालन करते रहने पर ही पूर्ण-आनन्द मिलता है।

हृदय सरोवर

के

हीरे-मोती

हे भगवान् ! मैं ही तुम्हें भूल गया हूं। तुमने तो मुझे हर बुरे रास्ते से बचाया है, जब-जब मैं अपनी कमजोरी से गिरता रहा। तुम मुझे उठाते रहे।

× ×

मेरा ही अपना दोष है। मैं ही तेरी कृपाओं को भुलाता रहा, परंतु तुमने मुझे फिर भी नहीं भुलाया।

× ×

मैंने तुम पर विश्वास भी नहीं किया, लाखों तेरी कृपाएं मुझ पर रहीं, मैंने ही उन पर विचार नहीं किया।

× ×

भगवन् ! मैं तेरे सामने कैसे आऊं, मेरे दुष्कर्मों ने मुझे लाचार बना दिया है।

× ×

हे दयानिधि ! मेरे अवगुणों की गठरी इतनी भारी हो गई है कि तुम तक आना कठिन हो गया है।

मन की उड़ान भी कितनी ऊंची है, जहां से गिर कर मैं चकनाचूर हो गया।

× ×

अपवित्र मन की धारणाओं से ही, मैं भ्रमित हो गया था और मन की पवित्र भावनाओं से ही, मुझे रास्ता दीख पड़ने लगा।

× ×

ओह! संग का दोष मनुष्य को क्या कुछ नहीं बना देता? काश! कि मैंने गिरने से पहले इस पहेली पर विचार किया होता?

× ×

हे दयानिधि! अब कहां जाऊं, स्वार्थी संसार ने गन्नेकी तरह रस निकाल कर मुझे ठुकरा दिया है।

× ×

आज की रात मेरे जीवन की पहली रात है, जब जरा सी झलक में सब कुछ खोकर, सब कुछ पा गया।

× ×

हे दयानिधि! दीनबन्धु! अब तो खो जाने दो मुझे अपने इन पवित्र चरणों में। मैं तो तेरी एक

प्यार की झलक में ही तेरा बन गया हूं।

× ×

भगवन् ! अब भी डर रहा हूं कही पहले की तरह झलक दिखाकर छुप न जाना, तुम्हारा यह खेल हमें नहीं सुहाता।

× ×

बस ! रहने दो इन पवित्र चरणों में, बहने दो अश्रुधारा, धुलने दो दाग जनम-जनम के।

× ×

आह ! कितना अपार सुख है प्यार के इन अश्रुधाराओं में, इनके बहने में ही आनन्द है। बंधने मे तो डर है, छलकने का।

× ×

हे चित! तू भी लगाले अपना डेरा, मन-मन्दिर के एक कोने में जहां तेरे प्रीतम का घर है।

× ×

हे सूर्य ! जिस प्रकार तू रात्रि के अन्धकार को मिटा देता है, उसी प्रकार मेरे अन्दर के अज्ञान रूपी काल रात्रि का नाश, ज्ञान-रूपी-प्रकाश ने कर दिया है।

हे शीतल चन्द्र ! जिस प्रकार तू दिनकर की तेज किरणों से उत्पन्न उष्णता का विनाश अपनी शीतल किरणों से कर देता है; उसी प्रकार मेरे अंदर भी ज्ञान-रूपी अमृत बूंदों ने, तृष्णा-रूपी सूर्य से उत्पन्न अशांति-रूपी उष्णता का नाशकर मुझे शांति-रूपी अमृत का पान कराया है।

× ×

औषधियो ! मुझे अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं रही। अब मैंने भोग-रूपी रोगों से सम्बन्ध तोड़ दिया है।

× ×

हे नील गगन ! मैं भी तेरी तरह निर्मल था। जिस तरह बादलों से तेरी निर्मलता छुप गई है। उसी तरह मैं भी विषयरूपी बादलों से घिरकर मलीन होगया हूं। मन की निर्मलता खो बैठा हूं।

× ×

अभिमान क्यों करूं ? मेरे जीवन का एक कोना तो मृत्यु के हाथों में बंधा हुआ है। चिरंजीवी की आश लगाकर मैं अपने को धोखे में रख रहा हूं।

× ×

आकाश के तारो ! कब तक टिमटिमाओगे ? आने वाले पतन का विचार करो ?

× ×

मुझे तो जन्म से बढ़कर प्यार मृत्यु से है। जिसकी गोद में मेरा जीवन छुपा है।

× ×

भिखारी से घृणा क्यों करता है ? वह तो तुम्हारे लिये सन्देशा लेकर आया है, और कहता है—अगर दूसरों पर दया न करोगे तो तुम्हे भी मेरी तरह घर-घर दया की याचना करनी पड़ेगी।

× ×

अब तो मुझे मृत्यु से अधिक भय विषयों से लगता है जो मृत्यु का मूल बीज है।

× ×

आग का स्वभाव जलाना है। मेरा काम अपना दामन बचाना है।

× ×

यौवन का असली स्वरूप वृद्धावस्था है और जन्म का स्वरूप मृत्यु।

ऐ वसंत की वहारो! क्यों अभिमान करती हो? पतझड़ का मौसम आते ही, तेरा अभिमान चूर-चूर हो जायेगा। आने वाले 'भविष्य' का विचार कर।

× ×

मैं किससे प्यार और किससे घृणा करूं। आत्मा तो सबमें एक ही है। गुण-अवगुणों से मुझे क्या। यह तो परिवर्तनशील प्रकृति के भाव हैं।

× ×

क्या कहूं! अपने मन की जो कि लोगों के लिये हंसी का विषय है। मुझे तो अपने जीवन में कहीं भी कोई बुरा, दुष्ट, पापी नजर ही नहीं आया। शायद मेरी निगाहों की यह कमजोरी न हो?

× ×

मुझे तो तेरे अच्छे से भी प्यार और बुरे से भी 'प्यार है। क्योंकि सब में तू ही तो समाया हुआ है।

× ×

'विश्व ही तेरा स्वरूप है यह बहुत देर के वाद मालूम हुआ, जबकि जीवन-सूर्य अस्ताचल की ओर पहुंच चुका था। अब समय कहां कि तेरे विश्व-व्यापक विराट रूप की सेवा करूं। अव तो मृत्यु-रूपी रात्रि·

आने वाली है।

× ×

हे फलो से लदे वृक्ष ! मेरा अभिमान आज तुमने चूर्ण कर दिया है। मुझमे गुण कम और अभिमान कितना है ? जबकि तू गुणो से परिपूर्ण और अभिमान से दूर है।

× ×

हे वृक्ष तू जड होते हुए भी कितना महान् है। तेरी शीतल छाया मे लाखो आराम पाते है। मै मनुष्य होकर भी लोगो को त्रास, अशान्त और भयभीत करता हू।

× ×

मुझसे तो पशु अच्छे हैं, जो अपनी जातीयता का सम्मान करते है। जबकि मै मनुष्य होकर भी मानव-जाति के विनाश मे लगा हू।

× ×

मैने लोगो को ससार के दलदल से मुक्त होने का अनेको वार उपदेश किया। परन्तु खुद मन के विषय-रूपी दलदल मे पडा रहा।

× ×

संसार के इन ग्रंथों और पंथों ने मुझे भी भ्रमित कर दिया था। भ्रम का भेद तब मिटा, जब मुझे अपने अन्दर का भेद मिला।

× ×

हृदय मन्दिर में विराजने वाले देवता का दर्शन मुझे अन्तर के अभेद से मिला। अपने देवता के दर्शन से, मेरे अन्दर के भ्रम-रूपी वृक्ष पर बैठे, सब दुःख-रूपी पक्षियों का नाश होगया।

× ×

यहां तेरा अपना कौन है? यहां तो सब स्वार्थ के दास हैं। अपना स्वार्थ-पूर्ण करते ही सब तुझे अकेला छोड़ जायेंगे।

× ×

हे मधु भरे फूल! क्यों इतना इठलाता है? औरों की तरह शीघ्र ही रस का लोभी भंवरा, तेरे रस को चूसकर, तेरी भी दुर्दशा कर देगा।

× ×

ऐ मधु भरे पुष्प! ये रस के लोभी भंवरे तेरे गीत नहीं गा रहे हैं, ये तो तेरे रस के गीत हैं। मधु समाप्त होते ही गीत भी समाप्त हो जायेंगे। यहां

का तो रिवाज ही ऐसा है। इसलिए अपने रस को बचाकर तू स्वयं इसके गीत गा।

× ×

मेरा यह कपटी मन भी भवरे की तरह लोभी है। जब, जिसमे भी रस देखता है, उसीके गीत गाने लग जाता है।

× ×

ऐ कपट से भरे मेरे मन ! अब तो मुझे शान्ति-पूर्वक जीने दे, अपने स्वाग को बन्दकर। कई जन्म बीत गये तेरी तृष्णा-रूपी आग मे जलते-जलते। पर तेरी तृष्णा कभी शान्त न हुई।

× ×

भगवन् ! उन्हे क्षमा कर दो, जो दूसरो पर अत्याचार करते हैं। क्योकि उन्हे मालूम ही नही कि हम क्या कर रहे है ?

× ×

जिनको दुनिया अछूत समझकर अपने से दूर रखती है, मुझे उन्हीसे प्यार है। अछूत शरीर नही बल्कि बुरे कर्म है।

× ×

लोग महात्मा बुद्ध के शरीर के उपासक हैं और बोध-रूपी प्रकाश से दूर हैं।

× ×

दीपक कितना महान् और परोपकारी है जो स्वयं को जला कर दूसरों को प्रकाश देता है।

× ×

हे वृक्षो ! तुम मेरे गुरू हो। तुमने मुझ भटकते अशान्त हृदय को रास्ता दिखाया, और कहा—तुम भी हमारी तरह सन्तोष, समता, धैर्य और विचार रूपी रस्सी पकड़े रहो। चाहे आंधी आए या तूफान।

× ×

लोगों को तो राम से प्यार हैं और मुझे रावण से। क्योंकि उसने जगत को रास्ता दिखाने वाले राम को अवतीर्ण होने के लिए बाध्य किया। राम के भक्तों को आनन्द और स्वयं को कलङ्कित किया।

× ×

मुझे प्रभु ईसा से जितना प्यार है उतना ही उनके द्वेपियों से, क्योंकि उन्होंने ही प्रभु ईसा को संसार में प्रकाशित किया।

× ×

मुझे सज्जनों से भी बढ़कर निन्दकों से प्यार है। जो दूसरों को पवित्र करते है और अपनी बदनामी सहते हैं।

× ×

लोग कहते है—भगवान की पूजा में मन लगाया करो। प्रभो मेरे पास मन है ही कहां ? वह तो कब का मिट चुका। अब तो तू ही तू रह गया है।

× ×

अब फुरसत कहां कि पूजा में मन लगाऊं। अब तो तेरी याद में दिन-रात का ही पता नहीं चलता।

× ×

मेरे पास अपना कुछ है ही कहां, जिसको मैं अपना कहूं। शरीर पंचतत्वों का पुतला है। मन शरीर के मिश्रित भावों का स्वरूप है। आत्मा परमात्मा की निधि है। इसलिए मैं और मेरे मन की निधि कुछ है ही कहां ?

× ×

लोग कहते हैं—महात्मन्! अपने उपदेश से हमें कृतार्थ करो। इन मेरे भोले-भाले लोगों को क्या पता है कि वह जो सुनना चाहते हैं यह इन्हीं की

निधि मेरे पास है। जो मुझे संसार से ही प्राप्त हुई है और वह है अनुभव।

× ×

मेरी कितनी भूल थी, जो मैं जग को बन्धन समझता था। मेरे बन्धन का कारण तो मेरे मन के संकल्पों का जाल तथा भ्रम था।

× ×

बन्धन और मुक्ति का भेद गम्भीर भी और सरल भी है। जीव संकल्पों से ही बन्धन में है, संकल्पों का त्याग करते ही मुक्त है।

× ×

दुःख—संसार चितवन में और सुख—आत्म चितवन में है।

× ×

मेरे लिए तो मेरे मन के अशुद्ध विचार ही भयङ्कर दुःख बने हुये थे।

× ×

मेरे मन! कहां तक कहूं तेरी कुटिलाई। किस प्रकार तूने मुझे जीवन में दुःख-सुख रूपी भ्रम के स्वप्नों में फंसाकर, मुझे मेरे मार्ग से विचलित करके

अशान्त सागर में डाला हुआ था। और आप दूर से खड़ा-खड़ा मेरी मूर्खता पर हंस-हंसकर मुझे जलाता रहा।

× ×

रे मना ! अब तू भी सम्भल जा, नहीं तो मुझे मेरे स्वरूप का बोध होते ही तेरा विनाश उसी प्रकार होगा, जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार का नाश हो जाता है।

× ×

ऐ चंचल मन ! तेरा प्रभाव मुझ पर तब तक ही था, जब तक मैं अबोध था। अब तुझे मेरे अधिकार में रहना ही होगा। क्योंकि अब ज्ञान अंकुश मुझे प्राप्त हो गया है। अंकुश से तो मदान्ध हाथी भी कांपता है।

× ×

रे मन ! अब तेरा त्याग भी मुझसे उसी प्रकार होने वाला है जिस प्रकार सेमल के फल पर चोंच मारकर उसमें से, 'रुई देख' सुआ पक्षी डाल को ही त्याग देता है।

× ×

बुद्धिमत्ता—आग से खेलने में नहीं है, बल्कि अपने दामन को आग से बचाने में है।

× ×

मैं किसी से घृणा क्यों करूं! मुझे तो घृणा अपने अन्दर से उत्पन्न होने वाले घृणित विचारों से करना चाहिए।

× ×

बाहर के किसी वैरी से वैर करने से पहले अपने घर के अन्दर निवास करने वाले 'काम' वैरी से वैर कर। काम का नाश होते ही बाहर के सब वैरी मित्र बन जायेंगे।

× ×

अपने सम्मान की इच्छा से ही तेरा अपमान हुआ है। स्वयं सम्मान की इच्छा का त्यागकर और दूसरों का सम्मान कर, स्वयं सम्मानित हो जायेगा।

× ×

अगर तुझे दूसरों के दोषों को देखने में आनन्द आता है, तो एक दफा अपने अन्दर के दोषों को भी देख, सच्चा आनन्द तब ही मिलेगा।

× ×

दुनिया में दोष कहीं भी नहीं है दोष तो तेरी आंखों पर लगे रंगीन चश्मे का है।

× ×

एकान्त कहां ढूंढ़ता है ? एकान्त तो तेरे मन की शान्ति में है।

× ×

जल की तरह शीतल रहो। गरम से गरम लोहा भी शीतलता पाते ही शान्त हो जाता है।

× ×

इस रंगीन संसार में सुख ढूंढ़ने वाले प्राणी, सम्भल कर चलना। कहीं खुद को भुलाकर उसमें खुद ही न रंग जाना।

× ×

मैं छूत किससे करने में डरूं ? अभी तो मेरे ही अन्दर विचार-रूपी अच्छूतों का सेना-दल अपना डेरा लगाये हुये हैं।

× ×

दूसरों के ज्ञान का कब तक सहारा लेगा। अपने अन्तर के ज्ञान-दीपक को जला। स्वयं तुझको सहारा मिल जायगा।

साधु बनाने में मुझे देर न लगी, पर साधुता प्राप्त करने में जीवन ही बीत गया। लेकिन साधुता प्राप्त न हो सकी।

× ×

साधु होने के बाद भी, जब तक मुझे अपने सम्मान की चाह थी। तब तक किसी से भी सम्मानित न हुआ। चाह मिटते ही, दूसरों के सम्मान की भावना जागृत होते ही, सम्मानित हो गया।

× ×

हे विषयों के विराट समूह ! तेरी ताकत समुद्र के तूफान से भी अधिक भयंकर है। समुद्र का तूफान तो जहाज को ही डुबा सकता है, पर तूने तो मेरे सम्पूर्ण जीवन को ही संसार-सागर में डुबा दिया है तेरे ही कारण मैं अपनी मानवीय-शक्ति को खो बैठा हूं।

× ×

मैं किसको अपना शत्रु समझूं, मेरे अन्दर के विषय ही मेरे परम शत्रु हैं।

× ×

पथ-प्रदर्शक अगर साहसी व विचारवान है, तो

मंजिल आसान समझो।

× ×

किसी को झुकाना है या अपना बनाना है तो प्यार का हथियार उठा।

× ×

प्यार ही, जीवन-वेल को स्नेह-जल से सींचकर हरा-भरा बना सकता है। इसलिये सबसे प्यार कर।

× ×

मन साधना ही सच्ची साधना है, मन निर्मलता ही सच्चा धन है।

× ×

अपने लिये तो सभी—सब कुछ करते है। धन्य वही है, जो दूसरों के लिये कुछ करता है।

× ×

संसार तो मेरे प्रभु की निधि है। मैं सबको अपने प्यारे की निधि समझकर प्यार करता हूं।

× ×

प्यार से तो सबको प्यार है। मुझे तो नफरत से भी प्यार है।

× ×

मुझे संसार के दुःख-सुख में उलझने का समय ही कब मिला ? मैं तो जीवन-भर अपने अन्दर के विकारों को ही चुनने में लगा रहा।

× ×

लोगों का कहना है कि ज्ञान में सुख है, मुझे तो ज्ञान-अज्ञान दोनों के मिट जाने के बाद ही तेरा कुछ पता चला।

× ×

लोग पापियों से डरते हैं, मुझे तो उनसे हार्दिक सहानुभूति है। क्योंकि वही सहानुभूति के योग्य हैं।

× ×

हे संसार के भोगो ! तुम्हें भोगने की कामना से ही मैं रोगी बना, शक्तिहीन बना, पर फिर भी तुमसे घृणा न कर सका। तुम्हें तो मैं पा न सका पर खुद का कई बार भुगतान करवा चुका हूं।

× ×

हे विषयो ! तुमने मुझे विष के समान विषम बनाया। मैं अपनी दुर्बलता के कारण फिर भी तुमसे सजग न हो सका।

× ×

मुक्ति-मुक्ति कहते युग बीत गया, पर अभी तक विषयों से मुक्त न हो सका।

× ×

हे रात्रि के अन्धकार ! तुझसे डर कर संसार अपने घरो में छुपकर निन्द्रा मे मग्न हो जाता है। उन्हे क्या मालूम कि तेरी गोद मे कितनी सुखमय-शान्ति छुपी हुई है।

× ×

ससार भ्रम नही हे। भ्रम मेरे ग्रह और अज्ञानता मे है। संसार तो भगवान का सुन्दर बगीचा है।

× ×

ज्ञान से ही स्वय-स्वरूप का बोध होता है। ज्ञान ही ईश्वर का स्वरूप है।

× ×

संसार असत्य नही है। असत्य तो इसमें चिर-सुख की चाह है।

× ×

ससार के दु.खो से क्यो घबराता है? उठ खडा हो, और पुरुषार्थ रूपी नाव मे बैठकर संसार-सागर

से पार हो जा।

× ×

तेरे हृदय-मन्दिर में बैठा तेरा अविनाशी सच्चा मित्र तुझे पुकार रहा है। उसकी गोद में बैठकर परम-सुख का आनन्द ले।

× ×

संसार, भगवान् का सुन्दर बगीचा है। इसमें अहं और आसक्तता का त्यागकर, भ्रमण कर। यह भगवान ने तेरे ही सुख के लिए बनाया है।

× ×

अगर संसार-सुख की चाहना है, तो इस संसार बगीचे के माली से मित्रता कर। उसकी मित्रता से ही तू जगत-आनन्द का अनुभव कर सकेगा।

× ×

जिसको तू दुःख समझकर त्यागता है वह दुःख नहीं, बल्कि दुःख तेरे भ्रम में है।

× ×

मैं किसको त्यागूं और किसको ग्रहण करूं। भगवान से जो भिन्न है, मैं उसका ही त्याग करूंगा।

× ×

वाहर कही न सुखं है न दु.ख । दु.ख-सुख तो मन के तरगो का स्वरूप है ।

× ×

मन समुद्र है । विचार उसकी लहरे है । दु ख-सुख रूपी इसके दो किनारे है । जिनसे टकरा कर यह थपेडे खाता रहता है ।

× ×

भोग कामनाओ मे आसक्तता ही मृत्यु-रूप काल है ।

× ×

गुण-अवगुण दोनो मे रमण करना ही बन्धन है । इनमे विरक्त होना ही मुक्ति है ।

× ×

कभी एकान्त मे, अपने शरीर के सब दरवाजो को बन्दकर, मन को अपने हृदय मन्दिर मे ले जा । तुझे अमूल्य निधि मिलेगी ।

× ×

ससार-सूर्य का मै क्या करूं ? जो अस्त के बाद अधेरा कर देता है । मुझे उस सूर्य की आवश्यकता है जो दिन और रात दोनो मे प्रकाश करता हो ।

सर्वत्र ईश्वरीय स्वरूप मानकर सर्व भूत प्राणियों में समानता से देखना ही दिव्य दृष्टि कहलाती है।

× ×

आत्म-दर्शन ही प्रभु दर्शन है। सर्वत्र में आत्म दृष्टि से देखने पर ही ईश्वरीय दर्शन होते हैं।

× ×

विवेक और शुद्ध विचार ही दिव्य दृष्टि को प्रकाशित करते हैं।

× ×

मन पर विजय केवल विचार से ही हो सकता है।

× ×

मन से उत्पन्न संकल्प ही संसार की रचना करता है। संसार का स्वरूप संकल्प है।

× ×

मन-शांति ही परम शांति है। इस परम शांति की प्राप्ति, मन की स्थिरता तथा बार-बार विचार करने से होती है।

× ×

मनुष्य का परम शत्रु लोभ है। काम, क्रोध, मद,

अहंकार इसके प्रबल सेनापति है।

× ×

लोभ-रूपी शत्रु पर ज्ञान-रूपी खड्ग से प्रहार कर, इससे ही इस पर विजय होगी।

× ×

संसार पर विजय प्राप्त करना सरल है, परन्तु अहंकार पर विजय प्राप्त् करना मनुष्य की विजय कहलाती है।

× ×

अहंकार के मिटते ही परम शान्ति की प्राप्ति होती है।

× ×

मानव ! अहंकार तुझे रुई के ढेर पर लगी आग की तरह अन्दर ही अन्दर तेरी शक्ति को नष्ट कर रहा है। इसको बुझाने का यत्न कर।

× ×

सांसारिक विषय-रोग पर विजय प्राप्त् करने से पहले, मन से विषयों का त्याग कर।

× ×

जिस प्रकार शरीर पुष्टि के लिए पुष्ट पदार्थों

की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार से आत्म-शक्ति की पुष्टि के लिये सत्संग और विचार रूपी धन की आवश्यकता है।

× ×

मान सरोवर के तट पर हंस और बगुला दोनों ही रहते हैं पर सरोवर में से हंस मोती और बगुला मछली चुगता है। उसी प्रकार संसार सरोवर के किनारे भी हंस और बगुला-रूपी मनुष्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार; ज्ञानामृत और दुर्गन्ध पूर्ण भोगों का भोग कर रहा है।

वन्दना

भगवान् ! मुझे शक्ति दो कि मैं जीवन संग्राम में काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार पर विचार द्वारा विजय प्राप्त कर सकूं।

× ×

भगवान् विश्वेश्वर ! मुझे शक्ति दो कि मैं कर्तव्य-वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढा सकूं।

× ×

दाता ! मुझे शक्ति दो कि मैं संसार में तेरे प्राणियों की सेवा कर सकूं।

× ×

हे विशम्भर ! मुझे शक्ति दो कि मैं दीन दुखियों के दुःख को अपना दुःख समझकर, उसे दूर करने में अपने प्राणों को भी निछावर कर सकूं।

× ×

भगवन् ! मुझे शक्ति दो कि मैं मानव-जीवन के तीन ऋणों—जननी, शरीर और समाज से उऋण हो सकूं।

हे विश्वरूप! मुझे बुद्धि दो, ताकि मैं यह समझ सकूं कि सर्व-भूत-प्राणियों में तू ही समाया है। यह विश्व ही तेरा स्वरूप है।

× ×

दयानिधि ! मुझे शक्ति दो कि मैं मन, कर्म, वचन से देश, समाज और संसार की सेवा में अपना जीवन अर्पण कर सकूं।

× ×

विश्वेश्वर ! मुझे शक्ति दो कि मैं द्वैत-भाव मिटाकर विश्वभर में प्रेम-बेल फैला सकूं।

× ×

हे जगत के आधार ! मुझे विवेकपूर्ण बुद्धि दो ताकि मैं यह समझ सकूं कि विश्व के जीवों से प्यार करना, 'तुझसे ही प्यार करना है'।

× ×

भगवान् ! मुझे मेरे मन के संशयों से रहित कर दो, ताकि मैं तुमको ही सर्वत्र सर्व-भूत प्राणियों में समाया हुआ जान सकूं।

× ×

भगवन् ! मुझे शक्ति दो कि मैं तेरा सन्देशा

'सब जीवों से प्यार करो' सुनाकर संक्षिप्त हृदयों को शान्ति दिला सकूं।

× ×

हे दयालु! मुझे शक्ति दो कि मैं अपने-पराये का भाव भुलाकर सब में समानता का व्यवहार बरत सकूं।

× ×

भगवान्! मैं यह क्यों नही समझता कि दूसरो का 'दुःख-सुख' मेरा ही अपना 'दुःख-सुख' है।

× ×

दयामय! मुझे शक्ति दो कि गिरे हुए को उठा सकूं और भूले हुए को रास्ता बतला सकूं।

× ×

हे दया सिन्धु! मुझे बल दो कि मैं विश्व को सत्य, न्याय, अहिंसा का भाव समझाकर, विश्व को उस रास्ते पर चलने के लिये 'प्रेपित' कर सकू।

× ×

भगवान्! मेरा मन 'सेवा-भाव' से रंग दो, ताकि विश्व-सेवा से मैं अपने जीवन को पवित्र बना सकूं।

हे दयालु ! मुझे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये अगर मेरे पास कुछ है, तो उसे भी विश्व को दे दो।

× ×

भगवन् ! मुझे याद तो नहीं है कि मैंने कोई पुण्य-कर्म किया है। अगर भूले से कोई पुण्य-कर्म बन भी गया हो तो उसका फल उनको देकर बचा लो, जो अकर्म करके गिर रहे हों।

× ×

हे दयानिधि ! मुझे नरक देकर किसी को मेरी जगह स्वर्ग का आनन्द दे दो।

अधूरा स्वप्न

मेरा एक स्वप्न जो अभी अधूरा ही है न जानें कब पूरा होगा। लम्बे समय से आ रहे मेरे मन के विचार जो अभी तक विचार मात्र ही हैं, न जाने कब साकार रूप में परिणत होंगे। मेरा अपना दृढ़ निश्चय है कि मैं अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक भी इस स्वप्न को साकार रूप देने का प्रयत्न करता रहूँगा।

मैं क्या चाहता हूं? वह अधूरा स्वप्न क्या है? इसका उत्तर अभी तक मेरे हृदय से लेकर अधरों तक ही आ-आकर रह जाता था। लेकिन अपने विचारों को मैं कुछ कारणों से व्यक्त नहीं कर सका था। आज मेरे हृदय के ध्येय ने मुझे शक्ति दी कि मैं कुछ टूटे-फूटे शब्द संसार की सेवा में रखूं।

यह तो सभी समझ रहे हैं कि आज का मानव जगत किस तरह आपसी मतभेद, राग, द्वेष, भय और क्रोध के कारण अशान्त एवं दुःखी है। मानव-जगत के पास आज सभी प्रकार के साधनें होते हुए

मेरा एक स्वप्न जो अभी अधूरा ही है न जाने कब पूरा होगा। लम्बे समय से आ रहे मेरे मन के विचार जो अभी तक विचार मात्र ही हैं, न जाने कब साकार रूप में परिणत होंगे। मेरा अपना दृढ निश्चय है कि मैं अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक भी इस स्वप्न को साकार रूप देने का प्रयत्न करता रहूँगा।

मैं क्या चाहता हूं? वह अधूरा स्वप्न क्या है? इसका उत्तर अभी तक मेरे हृदय से लेकर अधरों तक ही आ-आकर रह जाता था। लेकिन अपने विचारों को मैं कुछ कारणों से व्यक्त नही कर सका था। आज मेरे हृदय के ध्येय ने मुझे शक्ति दी कि मैं कुछ टूटे-फूटे शब्द संसार की सेवा में रखू।

यह तो सभी समझ रहे हैं कि आज का मानव जगत किस तरह आपसी मतभेद, राग, द्वेष, भय और क्रोध के कारण अशान्त एवं दु.खी है। मानव-जगत के पास आज सभी प्रकार के साधनें होते हुए

भी वह तृष्णा रूपी अग्नि में दहक रहा है। इन सब प्रकार के विनाश का कारण यह है कि आज का मानव-जगत भोगमय कामनाओं से लिप्त होकर अपने स्वार्थ को पूर्ण करने में अपनी मानवीय शक्ति को नष्ट कर रहा है, जबकि उसे अपनी इस शक्ति के द्वारा परम सुख को प्राप्त करना था।

और उसे प्राप्त कैसे किया जाता है, इसको भी उसे जानने की इच्छा नही है। आज का मानव-जगत कांच को हीरा समझकर उसमें ही जीवन है, यह जानकर वह हीरे से दूर होता जा रहा है। सच्चा सुख व परम शान्ति क्या वस्तु है, उसे भी वह भ्रम के कारण त्याग कर, क्षणिक, दुःखमय सुखों को सुख समझकर, बटोरने में लगा हुआ है। हमें मानव-जीवन क्यों मिला है, पशु और मानव में क्या अन्तर है, इसे भी वह जानना नही चाहता। विश्वभर में रहने वाली मानव जाति की जाति, धर्म व कर्तव्य क्या है, इस पर भी उसे अब विचार करने का मौका ही नही है। क्योंकि संसार भोगो ने उसकी 'वुद्धि-शक्ति' को रोगी बना दिया है।

मानव-जाति में फैली उपरोक्त विप-बेल को देखकर मैं लम्बे समय से दुःखी हो रहा था। परन्तु मैं स्वयं ही साधन हीन होने के कारण अपने दुःख को मिटाने में असमर्थ रहा। इस ध्येय की पूर्ति के लिये संसार के प्राणियों के इस सेवक ने इस 'विश्व-धर्म' पुस्तक को लिखा है, जिसके अन्दर मेरे हृदय के उद्गार है। अब कुछ रास्ता मेरे सामने नजर आ

रहा है। इस समय इस सेवक के द्वारा लिखी दूसरी पुस्तक 'सुख की खोज' छपकर तैयार हो गई है। विश्व-धर्म का अंग्रेजी अनुवाद भी छपकर तैयार हो गया है। इसी तरह मेरा विचार है कि मैं कुछ पुस्तकें और लिखूं और उनके द्वारा विश्व भर में अपने हृदय की आवाज को घर-घर तक पहुंचाकर मानव को विश्व-धर्म के विषय से अवगत कराऊं। इन पुस्तकों से प्राप्त धनराशि द्वारा मैं अपने अधूरे स्वप्न को साकाररूप में लाने के लिए प्रयत्न करूंगा। पुस्तकों से प्राप्त धनराशि द्वारा विश्व का यह सेवक विश्वभर में स्थान-स्थान पर ऐसे केन्द्र खोलेगा जिनके द्वारा मानव-जाति को उसके सही धर्म और कर्तव्य का सच्चा रास्ता मिल सकेगा।

विश्वभर के प्रत्येक मनुष्य को विश्व-बन्धु बनना होगा। सम्पूर्ण 'विश्व की निधि' मानव जाति की निधि है। विश्व के कल्याण की भावना प्रत्येक मनुष्य के अन्तःहृदय में जागृत होनी चाहिये। 'विश्व धर्म मिशन' विश्व भर की मानव जाति को उसके कल्याण का मार्ग बतलायेगा। सत्य, न्याय अहिंसा, दया, क्षमा, शौच, दम, सम, धैर्य और